भारत भूषण अग्रवाल

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

भारत भूषण अग्रवाल

मूलचन्द गौतम

साहित्य अकादेमी

Bharat Bhushan Agrawal : Monograph in Hindi, written by Moolchand Gautam on the modern Hindi writer, Sahitya Akademi, New Delhi (2000) Rs. 25

प्रथम संस्करण : 2000 ई.

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय
रवीन्द्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग : स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400 014
जीवनतारा बिल्डिंग, चौथा तल, 23 ए/44 एक्स, डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053

443-445, अन्ना सालई, तेनामपेट, चेन्नई 600 018
सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ.वी.आर. अंबेडकर मार्ग, बंगलौर-560002

ISBN 81-260-0952-7

मूल्य : पच्चीस रुपये

शब्द संयोजक : क्वालिटी प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली 110 093
मुद्रक : नागरी प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110 032

अनुक्रम

1
जीवन-यात्रा

मैं अबल, असहाय, शोषण के दलित युग का
निराशा से भरा, शंका घिरा कवि
नियति के उपहास पूरित व्यंग्य-सा जन्म मेरा
हुआ है तेरी जयन्ती पर।

तार सप्तक के कवि भारत भूषण अग्रवाल का जन्म 3 अगस्त 1919 को तुलसी जयन्ती के दिन मथुरा के सतघड़ा मुहल्ले में हुआ था। 'यों हमें तुलसी मिला' कविता में अपनी कवि होने की नियति तलाशते भारत जी का निधन भी 1975 में 23 जून को कबीर जयन्ती पर हुआ—यह महज संयोग भर नहीं था। तुलसी की प्रेमजनित निराशा से उत्पन्न निर्मम सामाजिक विवेक और कबीर के तीखे व्यंग्य का समन्वय उनकी कविता की मुख्य चेतना थी।

पिता श्री नत्थीमल और माता श्रीमती विद्यावती के इस दूसरे पुत्र की प्रतिभा का परिचय चमकदार विद्यार्थी जीवन से ही मिलने लगा था। माता-पिता की उपेक्षा और आर्थिक तंगहाली ने शुरू से ही भारत जी के आत्मबोध को प्रखर बना दिया था। कविता के एकान्त में ही उनकी भावनाओं को बल मिलता था। जीवन में प्रेम का अभाव जैसे कविता में काल्पनिक विराम व मुखरता पाता था। 'छवि के बन्धन' संग्रह से पूर्व की कविताओं का मुख्य स्वर प्रेम ही है—प्रेरणा भी। बड़े भाई विद्या भूषण जो सुप्रसिद्ध कथाकार ममता कालिया के पिता हैं, के साथ गोपाल प्रसाद व्यास, जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी जैसे साहित्यप्रेमी बचपन के साथियों व सत्येन्द्र जी जैसे सुरुचि सम्पन्न शिक्षक के सान्निध्य में भारत जी की साहित्य-यात्रा शुरू हुई। साहित्य की हस्तलिखित पत्रिका भारत भूषण अग्रवाल और जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी ने तीन-तीन पैसे लगाकर शुरू की। उसका 'भूषण' नाम भारत जी के नामांश के

साथ महाकवि भूषण की वीररसपूर्ण कविताओं की याद दिलाता था। कविता के साथ नाटकों में भी भारत जी की रुचि रही।

पिता जहाँ बड़े भाई को प्रशासनिक अधिकारी देखना चाहते थे, वहीं पूरे प्रदेश में हाईस्कूल की परीक्षा में तीसरा स्थान प्राप्त, छात्रवृत्ति से अपनी शिक्षा संचालित करने वाले भारत भूषण अग्रवाल को पढ़ाई छोड़कर परचून की दुकान पर बिठाना चाहते थे।

दारिद्र्य का जो कोप है—
रज-दुर्ग की जो तोप है
उसकी भला तुमसे कहूँ मैं क्या कथा।।

(*रचनावली,* खण्ड एक, पृ.5)

'मैं क्यों हुआ कवि विश्व में' की व्यथा ने हाईस्कूल में ही भारत जी से घर छुड़वा दिया। यह घटना 'सिद्धार्थ का गृह त्याग' से कम न थी। छात्रवृत्ति और बेहतर सुविधाओं का आमंत्रण पाकर उन्होंने बहुत दूर चन्दौसी के एस.एम. कॉलेज में इण्टर कॉमर्स में प्रवेश ले लिया। तुक के प्रति आकर्षण था ही। मैथिलीशरण गुप्त, नरेन्द्र शर्मा और बच्चन जी की तर्ज पर कविता का स्रोत फूट पड़ा। स्कूल की मीटिंगों, उत्सव-आयोजनादि में पद्य-आवृत्ति से हौसला बढ़ा। सोने में सुहागा कि इसी दौरान बरेली के एक कवि सम्मेलन में बच्चन जी और सुभद्रा कुमारी चौहान से प्रोत्साहन मिला। वहाँ अपनी कविता 'आँसुओं का हार' सुनाई। कविता की नोट बुक की भी ख़ूब तारीफ़ हुई। कवि को और कौन-सी खुराक चाहिए ?

चन्दौसी के बाद 1937-41 तक सेण्ट जान्स कॉलिज आगरा में अध्ययन के दौरान नेमिचन्द्र जैन, रांगेय राघव जैसे मित्रों के साहचर्य तथा प्रो. प्रकाशचन्द्र गुप्त के निर्देशन में कविता परवान चढ़ी। नेमिचन्द्र जैन के वैचारिक-बौद्धिक साहचर्य में पहले भारत भूषण अग्रवाल और बाद में मुक्तिबोध के काव्य-जीवन में रचनात्मक आवेग और प्रखरता का संयोग सम्भव हुआ। 41 में ही पहला काव्य संग्रह *छवि के बन्धन* प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष भारत जी मारवाड़ी समाज के अख़बार *समाज सेवक* के सम्पादक होकर कलकत्ता पहुँचे। बाङ्ला भाषी समाज से बहुत कुछ सीखा। जाति-बिरादरी के मामूली से अख़बार को साहित्यिक गरिमा दी।

1942-47 के बीच भारत जी कलकत्ता और हाथरस के व्यावसायिक-औद्योगिक प्रतिष्ठानों में काम करते रहे, जो किसी तरह भी उनकी प्रतिभा के अनुरूप नहीं थे। जीविका की चाह और आर्थिक आत्मनिर्भरता की मजबूरी और संघर्ष के प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कविता मरी नहीं। प्रेम और रोमान का कवि मार्क्सवाद की ओर झुका। इसी उत्साहतिरेक में 1943 में प्रकाशित ऐतिहासिक काव्य संयोजन *तार सप्तक* के आत्मवक्तव्य में खुद को कम्युनिस्ट घोषित किया और दूसरे संस्करण तक

आते-आते दोनों अभिन्न मित्रों ने साथ-ही-साथ यह घोषणा वापस ली। कृत्रिम यान्त्रिकता में कविता जैसे सूख चली थी—नारेबाजी मोहभंग और निराशा में बदलने लगी थी। 1943 में ही बिन्दु अग्रवाल के साथ विवाह—तामझाम रहित—घरवालों की अनिच्छा के बावजूद। इस विवाह से नेमिचन्द्र जैन से मित्रता रिश्तेदारी में बदल गयी। इस दौरान *जागते रहो* (1942) और *मुक्तिमार्ग* (1947) संग्रह प्रकाशित हुए।

सृजन के लिए उत्सुक भारत भूषण अग्रवाल इस यान्त्रिक-व्यावसायिक दुनिया से छूटकर साहित्य के केन्द्र इलाहाबाद में *प्रतीक* से जुड़े। यहीं 1948 में आकाशवाणी के कार्यक्रम अधिकारी नियुक्त हुए। 1959 तक की सेवा के दौरान *ओ अप्रस्तुत मन* संग्रह प्रकाश में आया। यह उनकी रचनात्मक परिपक्वता और पृष्ठभूमि का दौर था।

1960 में भारत जी साहित्य अकादेमी के उपसचिव होकर दिल्ली आ गये। 1974 तक उन्होंने परिवार और लेखन को व्यवस्थित किया। तमाम तरह के तनावों और संघर्ष के बावजूद उनके लिए रचना की दृष्टि से यह काल सबसे अधिक उर्वर रहा। निराशा ने व्यंग्य को प्रखरता दी। तुक्तककार के रूप में प्रतिष्ठा। कविता के साथ-साथ नाटक, निबन्ध, आलोचना, कहानी, उपन्यास, बाल साहित्य एवं अनुवादों में प्रतिभा का वैविध्य निखरा कि 1975 में शिमला स्थित 'उच्चतर अध्ययन संस्थान' के विजिटिंग फ़ैलो के रूप में 'भारतीय साहित्य में देश विभाजन' पर कार्य के दौरान ही निधन।

1977 में प्रकाशित *उतना वह सूरज है* संग्रह पर साहित्य अकादेमी पुरस्कार। कवि-पत्नी डॉ. बिन्दु अग्रवाल द्वारा अनेक पुस्तकों तथा रचनावली का प्रकाशन। कविता के क्षेत्र में प्रतिवर्ष किसी युवा कवि के लिए 'भारत भूषण अग्रवाल स्मृति पुरस्कार' की स्थापना।

भारत जी की दो बेटियाँ हैं—अन्विता अब्बी, अर्पिता मिश्रा और बेटा—अनुपम भारत।

2
कविता की तैयारी में

प्रायः सभी कवियों की काव्य यात्रा का प्रारम्भ पूर्ववर्ती कवियों के अनुकरण तथा परिवेश के प्रति सीधी-सादी काव्यात्मक प्रतिक्रियाओं से होता है। भारत भूषण अग्रवाल भी इसके अपवाद नहीं, बल्कि उनकी ईमानदारी इस बात में है कि उन्होंने कविता की तैयारी में किये गये इन आरम्भिक प्रयासों को अकुण्ठ भाव से स्वीकार किया है। जबकि जन्मजात महान होने का दावा करनेवालों को सम्भवतः इस प्रक्रिया को स्वीकार करना अपनी तौहीन लगती है।"

सुमित्रानंदन पंत तक ने कविता के प्रति अपने आकर्षण को स्वीकार करते हुए उसकी आरम्भिक प्रक्रिया की ओर जो संकेत किया है, वह एक औसत कवि का काव्यानुभव है—"जब मैंने कविता लिखना प्रारम्भ किया था तब मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं था कि काव्य की मानव-जीवन के लिए क्या उपयोगिता या महत्ता है। न मैं यह ही जानता था कि उस समय काव्य-जगत में कौन-सी शक्तियाँ कार्य कर रही थीं। जिस प्रकार एक दीपक दूसरे दीपक को जलाता है, उसी प्रकार द्विवेदी युग के कवियों की कृतियों ने मेरे हृदय को अपने सौन्दर्य से स्पर्श किया और उसमें प्रेरणा की एक शिखा जगा दी। उनके प्रकाश में मैं भी अपने भीतर-बाहर अपनी रुचि के अनुकूल काव्य के उपादानों का चयन तथा संग्रह करने लगा। यह ठीक ही है कि दीपशिखा जैसे तद्वत दूसरी दीपशिखा को जन्म देती है, उस प्रकार पिछली पीढ़ी की काव्य चेतना मेरे भीतर ज्यों की त्यों उतर आयी। मेरे मन में अपनी रुचि के अनुरूप उसका संस्कार उसमें अपनेपन की छाप लगा गई।" (*रश्मिबंध,* पृ. 7)

भारत भूषण अग्रवाल ने भी *तार सप्तक* के वक्तव्य में यह स्वीकार करते हुए कोई हेठी अनुभव नहीं की कि *'तुक के चमत्कार ने मुझे कविता की ओर आकर्षित किया और शुरू में गुणा-भाग की तरह कविता लिखी गिन-गिनकर।'* स्कूल की प्रारम्भिक कक्षाओं में दूसरों के पद्यों को कण्ठस्थ कर उनकी आवृत्ति करने ने

ही सम्भवतः मुझे कविता की ओर प्रेरित किया; चूँकि 'तुक' के कारण कण्ठस्थ करने में सुविधा होती थी, इसलिए अनजाने में ही तुक को मैं महत्त्वपूर्ण मानने लग गया। फल यह हुआ कि कुछ ही दिनों में मैं तुकबन्दी करने लग गया, जिन में जो न्यूनाधिक भाव होते थे, वे सब उधार-खाते, विन्यास मेरा अपना और ग़लत तुक या कमज़ोर तुक की कविता को रद्दी कविता मानने की मेरी आदत तो बहुत दिनों तक रही।' तुक के उस दौर में एकमात्र आदर्श कवि थे मैथिलीशरण गुप्त और उधार खाते में प्रमुख थे नरेन्द्र शर्मा, बच्चन और अनेक पूर्ववर्ती कवि। यह दौर ही ऐसा था कि *साकेत* का सार *आँसू* छन्द की पीड़ा और *मधुशाला* की मादकता लिये बिना कवि हो पाना सम्भव ही नहीं था। अतः भारत भूषण अग्रवाल जैसे भावुक युवक की कविताओं पर इनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, भले बाद में खुद उन्हें ही इन्हें पढ़ने पर हँसी आयी हो—'क्योंकि एक ओर उसका अनुकरण जितना आसान है, दूसरी ओर श्रोताओं को अनायास समझना भी उतना ही।'

भारत भूषण अग्रवाल की *छवि के बंधन* के प्रकाशित होने के पहले—सुरभि, सुषमा, मधुरिमा, खण्डहर, दीपान्विता, छायालोक और दो शीर्षकविहीन पाण्डुलिपियों के अलावा भी इधर-उधर बिखरी उत्सव-आयोजनादि के अवसर पर लिखी जाने वाली कविताओं को देखने पर, उनकी कवि बनने की तैयारी पर आलोचकों को आश्चर्य हो सकता है—तथाकथित इन संग्रहों के नामकरणों सहित—कि सचेत रूप से कवि होने के कारण क्या व्यक्ति की मानसिकता और सामाजिक परिस्थितियों में ही नहीं थे ? भारत जी ने अपनी इस मानसिकता का प्रखर विश्लेषण किया है। 'आज की सामाजिक व्यवस्था और उसकी आधारगत आर्थिक व्यवस्था एक मध्यवर्ग के नवयुवक को अप्राकृतिक रूप से महत्त्वाकांक्षी और स्वप्नाभिलाषी बना देती है, क्योंकि एक ओर तो वह अपने स्कूल और कॉलेज में पढ़ायी जानेवाली पाठ्य पुस्तकों से अपने-आप को महान व्यक्ति (इण्डिविजुअल) बनाने की सोचता है और दूसरी ओर ऊपर के वर्ग की ऐश्वर्यशालीनता उसे सहज ही आकर्षित करती है। और जो अति भावुक होता है वह अभिलाषाओं का शिकार होकर सौन्दर्य का भूखा, कल्पना के लड्डू खानेवाला रंगीन कवि हुए बिना नहीं रह सकता।' लेकिन ये लड्डू भी कब तक उसे कविता से जोड़े रख सकने में समर्थ हो सकते हैं। 'यह मेरी लिखी नहीं है' कहते-कहते कवि होने का चुनाव करना ही पड़ता है। दूसरों की प्रशंसा के लोभ की आदि प्रेरणा कभी तो मौलिकता के लिए बाध्य करेगी ही। भारत जी भी तुक और छन्दों का अभ्यास करते-करते उस स्थिति में आ ही गये, जब 'कविताओं में अपनी बात आने लगी। दूसरों की चार कविताएँ पढ़ लेने के बाद अपनी एक लिख लेने की रीति को छोड़ अब मैं उन बातों को कहने की क्षमता और साहस पा सका, जिन्हें मैं स्वयं अनुभव करता था।' इसलिए केवल 'लिखने के लिए लिखी गयी' इन

कविताओं का महत्त्व कवि की विकास-यात्रा को समझने का सन्दर्भ उपलब्ध कराने भर तक सीमित नहीं है।

इन कविताओं में पूर्व कवियों की कविताओं की अनुगूँजें साफ़-साफ़ सुनाई और दिखाई देती हैं—यहाँ तक कि कवि का व्यक्तित्व और परिवेश भी। रोमानी गीतात्मकता के साथ विद्रोही चेतना के स्वर यहाँ आद्यन्त मौजूद हैं। तुक से तुक्तक तक का कवि का विकास यहाँ सूत्र रूप में उपस्थित है।

हो जाऊँ पीकर मतवाला
सुध-बुध भूलूँ पी वह प्याला

(*रचनावली*, खण्ड एक, पृ. 8)

की मस्ती कौन नहीं पहचान सकता ? भारत जी की मस्ती तो यहाँ तक थी कि उन्होंने *मधुशाला* की पैरोडी तक कर डाली—

मँगवाया विदेश से चमचम चिकना-सा पेपर प्याला
और अनेक प्रयत्नों से फिर की तयार स्याही हाला।।
मैनेजर मालिक है इसका कम्पोजीटर साकी है।
पाठकगण छक-छक पीते छापाख़ाना मधुशाला।।

(वही, पृ. 492)

और यह उनके अकेले का हाल नहीं था। प्रकृति, वायवीय प्रेम और सौन्दर्य का यही संसार आगे चलकर जीवंत हुआ था, जिसमें सम्पूर्ण मांसलता व यथार्थ का ठोस आधार था। 'रुनझुन-रुनझुन तेरा नूपुर' से 'तू सुनता रहा मधुर नूपुर ध्वनि यद्यपि बजती थी चप्पल' तक यात्रा का अन्तर आ गया था। 'सजल पावस मास री सखि' में गुप्त जी की चेतना स्पष्ट बिम्बित हो रही थी तो 'कौन तुम मेरे हृदय में' में महादेवी बोल रही थीं और 'जागो कुमार' कविता में 'जागो फिर एक बार' की प्रतिध्वनि विद्यमान थी।

क्षितिज पर आयी नवेली हेम-सी
मधु उषा स्वर्णांचला मधुघट लिये।
मधुकरी ने विहँस जो देखा उधर
विकसकर कलिका झुकी कुछ लाज से।।

*　　　　*

सुनता हूँ मैं यह क्या ? आईं कल तुम मेरे गेह प्रिये।
नयनों को अंचल में डाल लेना मेरा स्नेह प्रिये।

इन पंक्तियों में हरिऔध तथा प्रसाद जी साफ़ बोलते हैं। यही नहीं भारत जी द्वारा लिखी गयी पूर्ववर्ती कवियों की पैरोडी में, उन कवियों की शैली की नक़ल ही नहीं, उस कविता के प्रति राग और द्वन्द्व दोनों को एक साथ देखा जा सकता

है। यही कार्य उन्होंने समकालीन रचनाकारों के साथ भी किया—तुक्तकों में। इस तरह तमाम अन्य प्रयोगों की पृष्ठभूमि यहीं मौजूद है।

इस प्रकार की लगभग तीन सौ अप्रकाशित कविताएँ भारत भूषण अग्रवाल के आगामी कवि जीवन की आधारशिला का संकेत करती हैं। इनके क्रम में आगे की कविता के जो अर्थ ध्वनित होते हैं, वे सर्वथा उपेक्षणीय नहीं हैं।

इन कविताओं में व्यक्त स्नेह की कामना और उसके प्राप्त न होने पर व्याप्त निराशा अन्त तक भारत जी के काव्य की मूल चेतना रही। इसी चेतना ने उन्हें लगातार आत्मसजग बनाया। सब सुध-बुध भूलकर किसी अन्य लोक में खो जाने का यह छायावादी संस्कार केवल स्वप्नाभिलाषी कैशोर्य की माँग नहीं थी, बल्कि यह कवि का बुनियादी स्वभाव था, जिसके संकेत इन कविताओं में विद्यमान हैं।

सजनि यह मुद्रा अचंचल।
पुण्य छवि भर लूँ दृगों में
ठहर तो तू एक ही पल।।
*   *

तेरी एक झलक में
कितना जीवन ! कितनी शान्ति ?
सत्य और शिव
मैं क्या जानूँ
भोली पावन, निश्छल कान्ति।
*   *

इन उमड़ते बादलों में
तड़पता है आज अनुभव
मेरी पीड़ा में जो विहँसते तेरे ही तो गान प्रिये।

यानी यह धारा सर्वत्र प्रवाहित है—एक अजस्र स्रोत की तरह। गीतात्मकता इसका सहज स्वभाव है।

मुझको मरघट तक पहुँचा दो।
मेरे अधिकारों की पुकार
का सारे जग में तिरस्कार
जीवन का पथ मैं पा न सका, मरने का पथ ही बतला दो।

की निराशा आज तक गीतों का स्थायी भाव है।

यह निरा संयोग नहीं है कि ये तमाम कविताएँ भारत भूषण अग्रवाल के भावप्रवण कवि और व्यक्ति का प्रामाणिक अन्तः साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं और सहज ही कवि को दूसरों के सामने खोल देती हैं—निष्कपट संवाद के लिए। इसी

प्रेमाभिव्यक्ति के कारण भारत जी में अंत तक भक्त कवियों जैसी खुली संवादोन्मुखता बनी रही, अपनी भूलों के सहज स्वीकार की विनम्रता के साथ–

तुम न मिलीं पर रानी ! मैंने प्यार तुम्हारा पाया है
बार-बार गीली आँखों ने मुझको यही बताया है
उन आँखों के पीछे क्या है, मैं अबोध यह क्या जानूँ
जिसने अब तक स्वयं स्वयं से अपना भाव छिपाया है।

कविता इसी छिपे भाव को व्यक्त कर देती है–कुछ भी गोपनीय नहीं बना रहने देती। जो कवि इस तरह कविता में अपने को उँड़ेल नहीं देना चाहते, उनकी कविता में उनके व्यक्तित्व की गाँठें साफ़ दिखाई देती हैं।

स्नेह का प्रतिदान क्या ?
रह गया है आज मेरे हृदय में अभिमान क्या ?

की सहजता ही वह विशेषता है जो कवि के विकास के साथ परिपक्व होती गयी है। बाद की कविताओं में यह भावावेग तटस्थ आत्मविश्लेषण में बदलता है, अन्यथा कवि की मानसिक उम्र नहीं बढ़ पाती।

प्रकृति के सुरम्य दृश्यों में भारत भूषण अग्रवाल का मन बहुत रमता है।

इन उत्ताल तरंगों में
तरल तरी लहरें लेती है
मृदुल वात थपकी देती है
तट-तरु पर बैठी खग बाला
गाती आज उमंगों में।

इसी आवेग में कवि प्रकृति से संवादरत होता है। 'कालिन्दी से' कविता में किया गया यह प्रश्न–

अयि कालिन्दजे ! तनिक सुना
वो कौन गिरा तुममें रमती ?
जिसकी मंद प्रतिध्वनि सुनके
बहते-बहते तू थमती।।

कवि पूर्ववर्ती कवियों के स्वर में स्वर मिलाकर 'ताज से प्रश्न' करना नहीं भूलता–

ज्योत्स्ना-सी आभामयि रूपसि,
करती थी जो भवन-विहार।
ताज ! बता भाया क्यों उसको
पाषाणों का शयनागार।।

'सूर्यास्त' का यह चित्र तो एकदम मौलिक बन पड़ा है–

बिखर गये केश
खिसक पड़ा वह पीत सुमन, खुल गये किरण कबरी बन्धन
लटें लुढ़क-सी पड़ीं, गिर गये झर कर मोती कण-कण
मुख पर वह अवसाद चिह्न, घिर छाया शुष्क गहन
थकित, शिथिल, क्लान्तगत
मलिन हुआ वेश

आलोक शीर्षक से रचित खण्डकाव्य की परिकल्पना में लिखे गए अनुभूति खण्ड को पढ़कर जाना जा सकता है कि कल्पना के साथ-साथ ठोस भौतिक यथार्थ का संकेत भी भारत जी की काव्य भूमि में था, जो आगे चलकर काव्य नाटकों में प्रतिफलित हुआ।

इन कविताओं के माध्यम से भारत जी का प्रारंभिक दौर का कवि न केवल स्वप्नलोक में पलायन का सुख ले सका, बल्कि उनमें उसे अपने 'असामाजिक नुकीले व्यक्तित्व द्वारा उत्पन्न अपनी असम्भव इच्छाओं की पूर्ति भी' दिखाई दी। कर्म करने की वास्तविक क्षमता और सामर्थ्य के अभाव में संसार को मिथ्या सिद्ध करने का प्रयत्न, भुलावे के लोक में ले चलने का आह्वान पूर्ववर्ती कवि भी खुलेआम कर ही रहे थे। कलावादी प्रवंचना का यही अहसास भारत जी को हिन्दी-कवि के 'दम्भी, अकर्मण्य और असामाजिक' होने के कारणों की पहचान करा सका। कविता से भावों का उत्थान और हृदय का परिष्कार जैसा पवित्र कार्य सम्भव न हो पाये तो कवि को तय करना ही होगा कि उसके लिए कविता में क्या करणीय है ? काव्य यात्रा के इस मोड़ पर भारत भूषण अग्रवाल ने आत्मनिरीक्षण एवं आत्मालोचन कर अपनी पिछली यात्रा की सार्थकता तलाश की और आगे की यात्रा का कार्यक्रम तय किया। तभी उन्होंने तय किया कि 'यदि कविता का उद्देश्य व्यक्ति की इकाई और समाज की व्यवस्था के बीच के सम्बन्ध को स्वर देना और उसको शुभ बनाने में सहायता करना है, तो हिन्दी के कवि को समाज से नाराज़ होकर भागने की बजाय समाज की उस शोषण सत्ता से लड़ना होगा, जिसने उसको कोरा स्वप्नाभिलाषी और कल्पना-विलासी बना छोड़ा है और जिसने उसको अपनी कविता को ही एकमात्र सम्पत्ति मानने के भ्रम में डाला है। इस संघर्ष के पथ पर के अपने अनुभवों को यदि वह पद्यबद्ध करेगा तो पायेगा कि उसकी कविता केवल मर्मस्पर्शी और सशक्त ही नहीं वरन् साथ ही उसको अधिक ज्ञानी और सामाजिक बनानेवाली भी है। तब कविता उसके हाथ में एक मूल्यवान अस्त्र की भाँति होगी, आज की तरह अपार्थिव अस्तित्वहीन फूलों की सेज नहीं।'

3

विकास-क्रम

कविता की पर्याप्त प्रारम्भिक तैयारी के बाद भारत भूषण अग्रवाल के स्वयं के प्रयत्नों से *छवि के बन्धन* (1941) पहला काव्य संग्रह प्रकाश में आया। ज़ाहिर है कि प्रेम और उसमें विफलता से उत्पन्न निराशा इसका मुख्य स्वर था, क्योंकि इसी क्रम में कवि को मौलिकता अर्जित हुई। संक्रमण के इस दौर की (1939-41) इन कविताओं में पुराना वायवीय रोमान पूरी तरह छूट नहीं गया था। गीतात्मकता व आत्मकेन्द्रित जीवन के अलावा कवि को इस दौर में कुछ सूझ भी नहीं रहा था। 'कौन तुम संसृति जलनिधि तीर' की तरह 'तुम कौन हो ?' की कुतूहलपरक जिज्ञासा कवि को ऐसे संवाद-संलाप में ले जाती है, जहाँ प्रेमिका से समग्र परिचय एवं आकर्षण के रग-रेशे से पहचान की अनिवार्य प्रक्रिया सम्पन्न होती है और जिसके बिना दुनिया का अर्थ ही नहीं खुलता। जैसे यह बच्चन और नरेन्द्र शर्मा के प्रभाव की भी अनिवार्य परिणति थी—

विरस, सूखा, प्राण मधुवन
विकल जीवन, विकल तन-मन
सुमुखि ! सरस फुहार-सी, रसधार-सी लहरा उठीं तुम

(*बहुत बाक़ी है*, पृ. 5)

यह वाचालता और मौन तत्कालीन प्रेम कविता के स्थायी भाव थे। प्रेम उस दौर में आधुनिकता, विद्रोह का पर्याय था। तब फिर युवा कवि उस उस ओर क्यों न आकर्षित होते ? सागर-सा विरल रूप, तरल मुस्कान, लाज, मदिर पलकों की बुलाहट, प्रणय कम्पन, देखने की चाह, मनुहार, अवसाद की शब्दावली से युक्त ये कविताएँ कवि की सफल शुरुआत का संकेत मानी जाती थीं। अतः *छवि के बन्धन* संग्रह की ये कविताएँ एक सम्भावनाशील युवा कवि के हिन्दी-कविता जगत में प्रवेश की दस्तक थीं—एक ऐतिहासिक शुरुआत।

भारत भूषण अग्रवाल की काव्य चेतना में ऐकान्तिक प्रेम के साथ ऐतिहासिक-सामाजिक यथार्थ की धारा भी अनुस्यूत थी। केवल ऐकांतिक प्रेम की यात्रा बहुत दूर तक सम्भव नहीं हो सकती थी। इसका साक्ष्य 1942 में प्रकाशित संग्रह *जागते रहो* की कविताओं में उपस्थित है और दिलचस्प तथ्य यह है कि इस संग्रह की कविताओं का रचनाकाल *छवि के बन्धन* का ही है। छायावादोत्तर रोमानी कवियों में भी प्रेम और क्रान्ति दोनों समान रूप से मौजूद थे। यह काल भारत की स्वतन्त्रता के लिए जारी संघर्ष की दृष्टि से भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। 'भारत छोड़ो' आन्दोलन और नाविक विद्रोह की पृष्ठभूमि में युवा बौद्धिकों में राजनीतिक बदलाव और वामपन्थी क्रान्ति के प्रति अति उत्साह कविता में मौजूद था। गाँधी जी के अहिंसक प्रतिकार ने इस आन्दोलन में रासायनिक परिवर्तन उपस्थित कर दिया था। कुछ लोगों को छोड़कर ज़्यादातर का दृष्टिकोण फासिज़्म-विरोधी था। गाँधी जी की अपेक्षा हिटलर और सुभाष इसीलिए ग्राह्य नहीं थे। भारत जी के इस संग्रह की कविताओं में व्यक्ति-वर्ग-देश व विश्व-चेतस् विश्लेषण की जिस रूप में अभिव्यक्ति हुई है, वह *तारसप्तक* में उनके कम्युनिस्ट होने की घोषणा का सन्दर्भ है। इस सन्दर्भ में प्रेम जैसे अदृश्य ही हो गया है। प्रेम को अतिवाद से बचाने का उपक्रम समकालीन कवियों की विशेषता ही कही जायेगी लेकिन केन्द्रित भावुकता का यह सामाजिक बदलाव और प्रतिबद्धता, लाल निशान के प्रति समर्पण पलटकर अपराध बोध की सम्भावना से ग्रस्त होता गया है। दूसरों को जागते रहने का उद्बोधन और उपदेश साहित्य में जिस राजनीति का प्रवेश है, वह द्विधाग्रस्त मध्यवर्गीय युवक में तीव्र अन्तर्द्वन्द्व को जन्म देता है—जिसे अक्सर सकारात्मक दिशा में देर तक साधना उसके बस का नहीं होता। ऐसे में आत्मसंशय रचनात्मकता को ही संकट में डाल देता है। लेकिन भारत जी के लिए यह अनुभव बड़ा मूल्यवान साबित हुआ। *अपने कवि से* बात करते हुए उन्हें कविता और जीवन का जो सत्य हासिल हुआ, वह एक नयी दुनिया थी, जिसने प्रेम की उदासी तथा निराशा को झटकार दिया। वाणी की प्राचीन वीणा से नये स्वर-विचार-ज्ञान-रीति का सम्बन्ध भी कैसे हो सकता है ? मधु की वंशी पर बादलों का गर्जना भर स्वर कैसे बज सकता है ? प्रेयसी के लिए प्यार ही जिस लघु जीवन का एकान्त सत्य था—एकमात्र सार था—वह असत्य, अपदार्थ और हीन लगने लगा। कवि का आत्मविश्लेषण जिस ठोस भौतिक जगत में प्रवेश करता है वहाँ—

परिस्थितियों का पिता है वर्ग और समाज पूँजी का,
और मेरे विकल मन की सभी सीमाएँ
वहीं से निःसृत हुई हैं।

(*बहुत बाकी है,* पृ. 47)

यहीं सुखिया-जैसी मज़दूर स्त्रियों के जीवन की जड़ें है। कवि इस समाज की ऐतिहासिकता की तह में जाकर नींव बदलने का गुरुतर दायित्व निभाना चाहता है। शोषण की सत्ता को चूर-चूर कर देने का उसका संकल्प विश्वव्यापी है।

यह अनायास नहीं कि *तारसप्तक* (1843) की अधिकांश कविताएँ *जागते रहो* संग्रह से ली गयी हैं। *छवि के बन्धन* की प्रेम कविताओं का संक्षिप्त प्रतिनिधित्व भर हो पाया है, क्योंकि यही कविताएँ कवि के कम्युनिस्ट होने की खुली घोषणा का समर्थन करती हैं। वक्तव्य के *पुनश्च* के अन्तर्गत कम्युनिस्ट न होने की घोषणा के उत्तरकाण्ड का प्रस्थान बिन्दु कवि की 'मैं और मेरा पिट्ठू' कविता है। विभक्त व्यक्तित्व का यह आत्मस्वीकार जैसे कवि की संतुलित-समन्वित मध्यमार्गीय मौलिकता की शुरुआत का संकेत है—जो अन्त तक उनकी पहचान बनी रही। इस बाद की यात्रा की विशेषता यह रही कि इसमें प्रेम भी रहा और बदलाव भी—बस अतिवादी आवेश ग़ायब हो गया। यही जैसे कवि की वयस्कता एवं परिपक्वता का दौर था, तमाम अन्तर्विरोधों के साथ।

मुक्तिमार्ग (1947) में भारत जी ने पुराने पथों से हटकर नये पथ की तलाश की, जिनमें न प्रेम का वायवीय आवेश था, न क्रान्ति का उद्वेग। था तो एक संयमित-सन्तुलित विवेक एवं निर्मम आत्मविश्लेषण। इसी राह से *चौराहे पर* कवि ने *मुक्ति मार्ग* की तलाश की, नियति को पहचानने की कोशिश और सन्तोष यह रहा कि कवि अपने इस लक्ष्य में विफल नहीं हुआ। यह मुक्तिमार्ग जैसे देश-मुक्ति से भी अभिन्न था। महाजनों, अन्तरात्मा की आवाज़ और सर्वसाधारण जनों के पीछे चलने में असमर्थ व्यक्ति की विवशता का अहसास—केवल नारेबाज़ी के अति उत्साह से अलग था। क्योंकि इसका परिणाम मोहभंग तब जिस गहरी निराशा को जन्म देता, वहाँ से यात्रा असम्भव होती। अपनी हिचक ही मार्ग की दुर्गमता लगने लगे तो पथ भी क्या करे ? भले भटकाव पथिक के हाथ लगे ?

घुट रहे हों प्राण जैसे किसी विषमय धुएँ से आक्रान्त
सूझता जैसे न हो पथ विकल मन को, रुद्ध जीवन को।

(*बहुत बाक़ी है*, पृ. 6-8)

ऐसे में कठिन तपती भूमि से सम्बन्ध जुड़ने की कामना और सत्य, निष्ठुर सत्य का आह्वान ही कवि की एकमात्र प्रेरणा हो सकती है—इसमें प्रेम भी मिल जाए तो सोने में सुहागा। तभी कवि अपराजित रहकर पथ से हारने से बच सकता है। *मुक्तिमार्ग* की मात्र दस कविताओं में भारत जी का स्वर बेहद आशावान है। यहाँ वे संशय भरे अति गलित जीवन का अनर्गल मोह तजकर न्याय के संघर्ष में सहयोग का संकल्प लेकर बृहद् जनगण के साथ हैं। यह अडिग आस्था लाल निशान की नारेबाज़ी से अलग सूक्ष्म और गम्भीर-गहन अन्तर्मन से उपजी है। लगता है कवि

को अपनी मनोवांछित दिशा और आवाज़ मिल गयी है, जहाँ न कोई हिचक है, न संशय। सततोन्मुख शक्ति और विकास के इस स्रोत से जुड़ाव की प्रक्रिया में ही रचना का अर्थ एवं मर्म निहित है। इस यात्रा के बिना गन्तव्य पर शुरू से ही पहुँच हुए कवि का न तो कोई विकास होता है, न अन्त, वह तो एकसार-एकतान बस क़दमताल करता रहता है। हर सजग कवि और कविता इस रूढ़िबद्ध जड़ता और अवरुद्ध मार्ग को तोड़कर, बहाव के पक्ष में विद्रोह करके ही नवीनता और सार्थकता को पा सकते हैं। तभी कविता इकहरेपन, सपाटता और स्थूलता से मुक्त होकर बहुआयामी एवं बहुलाभार्थक हो सकती है।

इस मायने में *ओ अप्रस्तुत मन !* (1958) भारत भूषण अग्रवाल की कविता का महत्त्वपूर्ण संग्रह है, जिसका काव्य जगत में गम्भीरता से नोटिस लिया गया। इस पर अज्ञेय और मुक्तिबोध की समीक्षाएँ विधिवत छपीं। 'वस्तुगत सत्य' और 'भावगत सच्चाई' के विरोधी दबावों के कारण विभक्त काव्य व्यक्तित्व में उत्पन्न टकराहट और उलझन को स्वर देती इन कविताओं में मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक तर्क पद्धति से खुलनेवाली नयी राहों की ओर आकर्षित और उस राह पर अन्तर्दृष्टि से वंचित किये जाने पर हतप्रभ और मोहभंग के शिकार लेखक और कलाकारों के संशय को केवल अज्ञेय ने ही नहीं पहचाना, स्वयं भारत जी का इस संग्रह का वक्तव्य इसका प्रमाण बना। ईमानदार मन के इस निश्छल वक्तव्य भर से तो 'भावात्मक संसार को छोड़कर बौद्धिक जगत में प्रवेश' की क़ीमत चुकी हुई नहीं मानी जा सकती। इसी बिन्दु पर कवि क़ीमत चुकाने के लिए 'अनिच्छुक अथवा अप्रस्तुत' दिखे तो उसे कैसे प्रमाण पत्र दिया जाए ? अज्ञेय की अपेक्षा भारत भूषण अग्रवाल के इस नये प्रस्थान के प्रति मुक्तिबोध में आक्रमण की बजाय सहानुभूति थी। उन्हें इस संग्रह की कविताओं में कोई पोज, चमत्कारपूर्ण भंगिमा, मसीहाई ठाट, कवि सुलभ स्वप्निलता नहीं दिखी, बल्कि रास्ता चलते कुछ मिल जाने-खुल जाने की काव्यात्मक परिणति लगी। इसी कारण मुक्तिबोध ने इन्हें ऐसे मामूली आदमी की कविताएँ माना, जो सचेत रूप में ज़िन्दगी के रास्ते पर चलते हुए हासिल तजुर्बे से निकाले नतीजों को सामने रखकर सन्तोष अनुभव करता है। यह मध्यवर्गीय 'स्वान्तः सुखाय' कठघरे में खड़ा किये जाने के बजाय सहानुभूति की अपेक्षा रखता है। उसके आत्म सम्बोधन और आत्म समीक्षा में ग़ौर करने और गम्भीरता से अलगाने-फ़र्क़ करने की ज़रूरत है। कवि की नयी-पुरानी श्रद्धाएँ झूठी सिद्ध हो जाएँ तो उसकी अगति खिल्ली उड़ाने की बजाय विचारणीय होनी चाहिए। ख़ासकर तब जब उसकी श्रद्धा उसके आन्तरिक आग्रह का प्रतिरूप न होकर मात्र बौद्धिक हो। इसी ट्रेजिडी में भारत जी की काव्य चेतना फँसी थी, जिसे झटका-धक्का देकर उन्होंने ख़ुद को बचाया। यह अगतिकता मुक्तिबोध की निगाह में आत्मजन्य नहीं, परिस्थितिजन्य

है। अर्थात् उसके कारण स्रोत मनोवैज्ञानिक न होकर सामाजिक हैं। निश्चित ही यह विश्लेषण डॉ. रामविलास शर्मा से अलग और महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि कट्टरता में मध्यवर्गीय विचलन के लिए कोई जगह नहीं थी। जबकि भारत भूषण अग्रवाल की कविता की यही जगह थी। भूल-भुलैयों से निकलकर यहीं से उनकी कविता जनपथ पर आयी थी।

इसी संग्रह के वक्तव्य में भारत जी ने विभक्त व्यक्तित्व की विस्तार से चर्चा की। उनके लिए यह मध्यवर्गीय मन की अनिवार्यता एवं विवशता-विकल्पहीनता की स्थिति थी। 'सुविधा या प्रशंसा के लोभ में या अधकचरे ज्ञान के भ्रम में अपनायी गयी पक्षधरता' का रहस्य अब पूरी तरह खुल गया। प्रतिकूल वातावरण में अकेले होने की नियति का हिम्मत से सामना करना कठिन है—हिचक अलग अवरोध खड़ी करती है।

भारत जी ने 'मैं और मेरा पिट्ठू' कविता की परम्परा में विभक्त व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए अलग से एक ऐसी शैली विकसित की, जो उनकी निजी उपलब्धि है। विसंगतियों के लिए लिमरिक का प्रयोग इसीलिए उनकी शैली के लिए उपयुक्त रहा। 'घृणा का डोज', 'मैं निरा विलायती स्पंज हूँ', 'नाग बीन और मदारी', 'कार्टूनों का जुलूस', 'तुम ओ मेरे पूर्वजों' जैसी कविताओं में वे एक सिद्ध कवि की तरह सहज व्यवहार करते हैं। व्यंग्य ने जैसे कवि को साहस प्रदान कर दिया—खुलकर अप्रिय सत्य बोलने का। यही निराशा से बचने का उपाय है—ख़ुद को साहस और सान्त्वना देने का भी। बार-बार कवि कहता है—

तुम भी अब चल पड़ो
झाड़कर सुख के क्षण
हवा रुकती नहीं, रुकोगे भला क्यों तुम ?

अभी यात्रा का नहीं है अन्त
इस विषम संघर्ष में तू अभी भी हारा नहीं है ?

(*बहुत बाक़ी है*, पृ. 89-90)

अनागत के प्रति औत्सुक्य और सामना करने का साहस, निर्मम भाव से बढ़ते काल के रथ चक्र—न्याय की कठोर बाँहों के सामने ख़ुद को प्रस्तुत करने की निर्भीकता ही कविता को और कवि को तिमिर को काटने के लिए लोह छेनी की तरह आलोक की किरणें ज्योति की भाषा सौंपती है, जो कभी व्यवधानों से नहीं बँधती। सूखे-तपे खेत-सा कवि इस पुकार में सहभागी है—

कृपा नहीं चाहता हूँ।
दान नहीं माँगता हूँ

मेरा एक भाग
जो है आज तेरे पास
और जिसका हूँ मैं ही एकमात्र सही अधिकारी
वह मुझे ला के दे।

(*बहुत बाक़ी है*, पृ. 114)

पुराने संग्रहों की अपेक्षा क्या भारत जी का यह स्वर कुछ नया और अलग नहीं है ? रूखी रेत के बेडौल टीले से अलग सरोवर की क्या कोई अपनी पहचान नहीं है ? इस संग्रह की तमाम छोटी-छोटी कविताएँ जो विस्तृत वितान रचती हैं—वह रंग की बजाय रस के परस की कामना—अपने छोटेपन में भी विनम्र हैं।

व्यंग्य-विनोद की प्रवृत्ति भारत भूषण अग्रवाल में शुरू से ही रही। व्यंग्य और हल्के-फुल्के हास्य के बिना जीवन्तता की कल्पना ही नहीं की जा सकती। भारत जी गम्भीर होने के साथ शालीन-मर्यादित-नोंक-झोंक की ज़िन्दादिली से युक्त थे। पैरोडियों, फुलझड़ियों, व्यक्तियों पर केन्द्रित तुक्तकों-मुक्तकों के बिना उन्हें चैन नहीं आता था। ज़ाहिर है कि इनसे कई बार कुछ दुर्घटनाएँ भी हुईं, लेकिन इस खिलवाड़ और खिलखिलाहट ने अन्त तक उनका पीछा नहीं छोड़ा। हाथरस से ही हास्यरस में सराबोर उनके तुक्तकों में अक्सर किसी व्यक्ति, घटना या प्रसंग का ऐसा चित्रण होता है कि अचानक उस सत्य का एक ख़ास काट-कोण से कुछ पैना-तीखा अर्थ ध्वनित होने लगता है। लीअर के लिमरिक की यह हिन्दी-साधना एवं प्रवर्तन प्रभाकर माचवे के चित्रों को छोड़कर आगे नहीं बढ़ पाया। माचवे जी के तुक्तक और चित्र सहज भाव से सृजित न होकर प्रायः प्रतिक्रियास्वरूप या मन की माँग में ही उकेरे गये, जबकि भारत जी अक्सर इस विधा को आजमाते रहे। 1946-47 से शुरू होकर इनकी रचना 73 तक जारी रही। 'खापछाड़ा' के व्यंग्य चित्रों समेत विनोदपूर्ण तुकबंदियों तथा लीअर के साथ मिलकर भारत जी के तुक्तकों का रसायन तैयार हुआ। 'अर्द्धचन्द्र' उपनाम का रहस्य खुलते देर न लगी। 1963 में *काग़ज़ के फूल* संग्रह से इस विधा की विधिवत स्थापना हो गयी—भले ही वह अभी तक वहीं खड़ी हो। अर्थहीन तुकबन्दी के लक्ष्य को साधना कठिन होते हुए भी कविता की खोज में की गयी, इनकी रचना को अर्थ मिला—

बारह बजे मिलीं जब घड़ी की दो सुइयाँ
छोटी बोली बड़ी से 'सुनो तो मेरी गुइयाँ
कहाँ चली मुझे छोड़,
बड़ी बोली भौं सिकोड़
"आलसी का साथ कौन देगा, अरी टुइयाँ।"

जैसे निरामिष तुक्तकों में भारत जी विट् से—अर्थहीनता में जो अर्थ

चामत्कारिक तरीक़े से भर देते हैं, वही व्यक्तिपरक तुक्तकों में आक्षेप, कटाक्ष, अपरोक्ष अपमान के रूप में कटुता और तिक्तता का वातावरण पैदा करता है, न चाहते हुए भी। औपचारिकता के आधिक्य के चलते हिन्दी के साहित्यिक जगत में अश्रद्धा का यह कर्म विनोद की बजाय शत्रुता को जन्म देने लगे तो तौबा ! धृष्टता और व्यक्तिपरक आस्था के इस द्वन्द्व में भारत जी ने तुक्तकों से ही किनारा कर लिया। ऐसी कितनी ही अप्रकाशनीय रचनाएँ अब जाकर रचनावली में प्रकाशित हो पायी हैं, जो उनके व्यंग्यकार पर नये सिरे से विचार करने को बाध्य करती हैं। धुत विलम्बिता, शोध की बानगियाँ, शीर्षकों की अनुगूँज समकालीन साहित्यिक परिदृश्य में ऐसा सकारात्मक हस्तक्षेप है, जिसकी बेहद ज़रूरत थी और है। व्यंग्य ही कूड़े-करकट की ऐसी सफ़ाई कर सकता है—भले उसे निन्दा की तरह गर्हित क्यों न माना जाए ? अज्ञेय, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश तथा अन्य तमाम लोगों पर छींटाकशी का यह अन्दाज़ लोगों को स्तरहीन लग सकता है, लेकिन उन तथ्यों की सच्चाई से कौन इनकार कर सकता है ?

'गुनाहों का देवता'
सुना है
नया संस्करण बम्बई में हो रहा है।
व्यक्तिगत ज़िन्दगी में हस्तक्षेप माना जाए क्या ? (इसे)
रीता !
लो एक दिन और बीता।

(*रचनावली*, खण्ड एक, पृ. 531)

'अनवरत साहित्य साधना में लीन हिन्दी के कवि कर्मठ सेवक का विस्मयादिबोधक' एक विचित्र कविता है। इस मायने में भारत जी एक सच्चे प्रयोगवादी लगते हैं।

अनुपस्थित लोग (1965) के प्रकाशन से कविता की पिछली यात्रा फिर गति पकड़ती है। यह अनायास नहीं कि इस संग्रह में *तार सप्तक* के दूसरे संस्करण में पुनश्च के साथ कविता 'मैं और मेरा पिट्ठू' संकलित है। मुक्ति, विराट का खण्ड—विभक्त व्यक्तित्व एवं प्रयोगशीलता इस संग्रह की कविताओं का भी मुख्य स्वर है। कवि के भीतर से अनावश्यक अहं पूरी तरह से निकल गया है, इसलिए यहाँ नारेबाज़ी की बजाय कवि आत्मचिन्तन एवं आत्मविश्लेषण में अधिक संलग्न है। ख़ुद को विराट की बजाय दर्पण का खण्ड समझता कवि आश्वस्त है कि वह अपने लघु अस्तित्व में भी सार्थक और पूर्ण है। समुद्र और दर्पण का यह भेद कवि की नयी दार्शनिक भूमिका का भेद है, जहाँ उसे अपना अधूरापन कुचले हुए पूजा के फूल-सा ध्वस्त और छिन्न-भिन्न, उसका उद्गार वर्षा बीत जाने पर उतरी हुई

बाढ़ की छोड़ी हुई रेत-सा रूखा और रसहीन, प्यार क्रुद्ध अध्यापक से अकारण पिटे हुए निरपराध बालक-सा शंकित-दमित होते हुए भी गाने से वंचित नहीं है। अनागत शायद उन गीतों-कविताओं में व्यक्त उसके अर्थ को कभी पहचान सकेगा, ऐसी आशा उसे है। इसीलिए कृत्रिम परिवेश से घिरा, भूमि से विच्छिन्न गमले का पौधा बनना, घर को छाया देने के बदले उसकी छाया में रहना, बूँद के लिए पराई कृपा पर आश्रित रहना, धूप-वृष्टि-झंझा में यंत्रों का कवच ओढ़कर बन्द कक्ष में बैठना, उसके स्वभाव, कर्त्तव्य और पुरुषार्थ के लिए सम्भव नहीं है। यह कवि की आत्मविश्वास से भरी नयी पहचान है। अब यात्रा में वह अपने बहुरूपिया और अभिन्न तथा जीवन के एकमात्र विश्वस्त साथी दुःख के साथ मज़े में रह सकता है, दुनिया से संवाद कर सकता है।

इस संग्रह में 'मुक्ति' कविता भारत जी की 'चीरफाड़' मानों जैसी महत्त्वपूर्ण रचना की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है। पथ और मुक्ति की निरन्तर तलाशवाले ऐसे कवि की यात्रा सरल-सीधी रेखा की तरह नहीं है। अल्हड़ से अधेड़ होने तक के अनुभवों की जटिलता किताबी दुनिया से बड़ी चीज़ है। यह जैसे अपने भीतर जूझते पल-पल मरते-जीते आदमी की पहचान है, देने की विकलता के साथ अनुपस्थित लोगों के बीच के विदेह का प्रेम इस संग्रह की कविताओं की ख़ासियत है। प्रेम का स्मरण और वरण अब कवि के अस्तित्व को एक परिपक्वता देता है, जो उसमें पुलक के सौ-सौ सवेरे-हर्ष के निर्झर घनेरों को जगाता है। विभक्त व्यक्तित्व इस सकारात्मकता के अभाव में—तटस्थता के बिना पतन-आत्मघात की ओर बढ़ सकता है। भारत जी अपनी सन्तुलित आस्था से उसे लगातार कविता और जीवन—दोनों में साधे रहते हैं।

रचनात्मक दृष्टि तथा विकास की उत्कृष्टता की दृष्टि से भारत जी के काव्य संग्रह *एक उठा हुआ हाथ* (1970) और उसकी 'परिदृश्य : 1967' एवं 'चीरफाड़' कविताओं का विशेष महत्व है। नेहरू जी के निधन के बाद के परिदृश्य का पूरा मध्यवर्गीय मोहभंग इन दोनों कविताओं में अनुस्यूत है। बाद में यही मोहभंग धूमिल की कविताओं में पूरी शिद्दत से सामने आया, जहाँ तमाम लोकतान्त्रिक संस्थाओं, प्रतीकों और व्यवस्था के पारम्परिक मायने ही बदल गये थे। नक्सलवाद इसी मोहभंग का हिंसक बदलाव था, जो एक अतिवाद से दूसरे अतिवाद की ओर जाता था। भारत जी की कविताओं में तीखे व्यंग्य और घृणा के माध्यम से बदलाव मखौल के रूप में उभरा, जिसमें विसंगतिपूर्ण स्थितियों का समाधान निहित था, उसका रूप भले शाब्दिक न रहा हो। वेदपाठी और कण्ट्रेक्टर के बीच का मिटता फ़र्क़ आज चन्द्रास्वामी और हर्षद मेहता तक आ पहुँचा है। इसके संकेत अज्ञेय की बजाय मुक्तिबोध और भारत भूषण अग्रवाल की कविताओं में ही मिल सकते हैं। शाश्वत

आध्यात्मिक लोक की बजाय इलेक्शन फ़ण्ड में चन्दा जुटाने के लिए अपराधी सेठों के चक्कर काटते मिनिस्टर, भ्रष्टाचार के टूटते पुलों की दास्तान टेलीविजन से टपकती ब्यूटी क्वीन की टाँग की बूँदें, शान्ति सम्मेलनों में बँटती 'एनासीन' की गोलियाँ, गोदामों में चिने बोरों में भरा मानवतावाद इस नये लोकतन्त्र की ऐसी हक़ीक़तें है, जिनकी ओर से आँखें मूँदने पर ही कविता की मसीहाई मिलती है। कृषि प्रधान देश में फ़ॉरेन एड से यक्ष का नाता, इण्डिया गेट पर उघड़ने को मजबूर प्रेमी युगल, बदलते सांस्कृतिक-आर्थिक वातावरण के ऐसे प्रश्न हैं, जिनसे टकराये बिना संस्कृति कर्म का कोई अर्थ नहीं है। 1967 का महत्त्व इस मायने में 1942 या 1947 से कम नहीं है।

संसद भवन में शहद का एक छत्ता लगा है
जिसकी मक्खियाँ फूलों से नहीं
घावों से मधु चूसती हैं
और रानी मक्खी कुछ नहीं करती
बस मिंक कोट पहनती है।

(*एक उठा हुआ हाथ*, पृ. 54)

किसी अलग व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखता। 'कोका कोला' और गऊमाता का यह अन्तर्विरोध आज और अधिक भयावह रूप में सामने है। आदमी अब पचास की बजाय सौ करोड़ ज़रूर हो गये हैं।

'चीरफाड़' इसी भौतिक जगत का व्यक्तिकेन्द्रित आत्मविश्लेषण है। मुक्ति की समस्या यहाँ पूर्ववत् उपस्थित है। हर नये फन्दे से बच-बचकर चलने पर भी धरती से चार अंगुल ऊपर चला यान किसी को दिव्यता नहीं दिला पाता। मिलता है तो खोखला हाहाकार और रेत का अन्तहीन विस्तार, जिसे आप मुक्ति समझ लें या रस। रूपक और प्रतीकों में इतिहास-परम्परा और वर्तमान का तनाव पूरे अतीत से एक नये सम्बन्ध का आविष्कार करता है। जहाँ तिलक-त्रिपुण्डी, रामनामी ओढ़े, सुमिरनी धरे दक्षिणी पण्डित को असवर्णों की अपवित्र छाया से बचने, शुचिता के मण्डल में आबद्ध होते हुए भी पता नहीं चला है कि कब-कैसे उसके व्यवहार में से धर्म का सार बीत गया है। रह गया है एक आडम्बर, घिसी-पिटी रूढ़ि और निरर्थक बकवास। कबीर ने भी क्या इसी ओर इशारा नहीं किया था—क्या वह भी इस मुर्दों के सड़े-गले समाज की चीरफाड़ नहीं थी ? और इस संग्रह की 'एक उठा हुआ हाथ' कविता में मुक्तिबोध की याद क्या अकारण ही है ?

'मैं और मेरा पिट्ठू' का विभक्त व्यक्तित्व 'यहाँ भी जहाँ मैं हूँ', 'अगति', 'अ-लगाव', 'आहट : डायरी का तीसरा पन्ना', 'ट्रैफ़िक पुलिसमैन', 'हर बार यही होता है' जैसी कविताओं में पूरे वैविध्य एवं जटिलताओं के साथ विद्यमान है। समाज

के विघटन से तमाम विसंगतियाँ फैल जाएँगी, तब कैसे मिलेगा यह संसार, जिसमें सब चीज़ें होंगी—अपनी जगहों पर सजीं और यह टूटा क्रम किसी यूटोपिया में भले जुड़ जाए, यथार्थ में तो मुश्किल से ही जुड़ेगा। दूरियाँ एवं दरारें और बढ़ती जाएँगी। इनके साक्ष्य के बिना साहित्य क्या साहित्य होगा ? कविता क्या कविता होगी ?

उनके निधन के उपरान्त प्रकाशित संग्रह *उतना वह सूरज है* (1977) का महत्त्व साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत होने के कारण ही नहीं, इसलिए भी है कि भारत जी के प्रेम के प्रस्थान बिन्दु की परिक्रमा यहीं आकर पूरी होती है। पता नहीं क्यों लगता है कि वे जीवन के रस की आख़िरी बूँदें तक इन कविताओं में निचोड़ कर भर देना चाहते थे। और यह अनायास नहीं कि इस संग्रह की आख़िरी कविता 'वसीयत' है। जाने के पहले सब कुछ दान कर जाने की उनकी कामनाओं के क्रम में वे दिल अपनी जान ! को दे जाना चाहते है, ताकि वह प्रेम करके भी पतिव्रता बनी रहे और इस प्रेम को थाती के रूप में भावी पीढ़ियों को सुरक्षित और दायित्वपूर्ण तरीके से सौंप सके। 'कैसी तुम नदी हो', अद्वितीया', 'देने की विकलता', 'चेहरा तुम्हारा', 'प्यार एक फूल है' जैसी गम्भीर और हल्की-फुल्की कविताओं में प्रेम जैसे छलका पडता है। कहीं यह दिये की बुझने से पहले की चमक तो नहीं ? जैसे यही कवि को जीवन भर की तलाश के रूप में मुक्ति नहीं, अभिव्यक्ति मिल पाई है। अधूरेपन का अहसास अब हीनता भरने की बजाय खुले स्वीकार में बदलकर अपराध-बोध पैदा नहीं करता। इसीलिए कवि लिखे जा चुके के मुक़ाबले न लिखे गये के प्रति आश्वस्त है—अनुभव के मुक़ाबले अभाव उसे अधिक महत्त्वपूर्ण लगता है, वह विकल्पहीन सूरज के प्रति आस्थावान है।

समकालीन सामाजिक यथार्थ के प्रति भारत जी की समझ, इस संग्रह की कविताओं में वयस्क-परिपक्व प्रतिक्रियाओं के रूप में उभरी है। शत्रु-मित्र पदावली में सोचने के अभ्यस्त अक्सर यथार्थ की बहुआयामिता की अनदेखी करते हैं। सांस्कृतिक चूहे, मकड़ी के प्रतीक और प्रयोग ऊटपटांग परिवेश के नये अर्थ खोजने की प्रक्रिया में मिले सत्य हैं। क्रान्ति के बौद्धिक स्तर में वृद्धि करनेवाले गीतों और फ़ोटोग्राफ़ी का नया सम्बन्ध, उसके बारे में कवि की सन्तुलित धारणा का प्रतिफल है। कवि जैसे छोटे-छोटे तथ्यों, क्षणों और बदलावों को कविताओं में लिपिबद्ध करने के लिए अति आतुर है।

भारत भूषण अग्रवाल की कविता-यात्रा का यह अन्तिम पड़ाव, पिछली कविताओं को पुनरायत्त करने का काम बख़ूबी करता है। विभिन्न मोड़ों और पड़ावों से गुज़रती इन पगध्वनियों में न केवल कवि के व्यक्तिगत विकास-बदलाव का पता चलता है, वरन् समकालीनों की रचना-यात्रा के बीच उसे विशिष्ट सन्दर्भ भी प्राप्त होता है। यों भी कितने रचनाकारों को युग साक्षी बनने का मौक़ा मिलता है ? और

कितनी रचनाएँ तलछट में अदृश्य होने से बच पाती हैं ? समय गुज़रने पर ही पता चल पाता है कि असाधारण और महान अतिवादों के बीच कैसे एक मध्यवर्ती धारा अनचीन्ही रह गयी है ? दिलचस्प यह भी होता है कि आगे आनेवाले अधिकांश कवि इसी धारा से ख़ुद को जोड़कर देखने में गर्व महसूस करते हैं—बाद में भले कोई अकेलेपन के वैभव को हासिल करके सर्वोच्च शिखर पर आसीन हो जाए। दरअसल बनने और विकसित होने की प्रक्रिया इसी राह से गुज़रती है और भारत भूषण अग्रवाल भी इसके अपवाद नहीं।

4

कौन-सा पथ है ?

छवि के छन्दों पर मन्द चरण
उतरो उर में कविता-सी तुम

भारत भूषण अग्रवाल के पहले प्रकाशित संग्रह की पहली ही कविता से सूचना मिलती है कि कवि के वायवीय प्रेम को जैसे एक जीवित-जाग्रत पात्र मिल गया है, जिसकी छवि को वह शब्दों और बिम्बों के बन्धन में बाँधना चाहता है। यह अनायास नहीं कि इस संग्रह की एक भी कविता प्रेम के आकर्षण, प्रेमिका के प्रत्यक्ष स्पर्श-छुअन ओर उसकी स्मृति, मिलन, बिछोह-विदा की कसक-निराशा से अछूती नहीं है। 'री कामिनी ! तुम कौन हो' के अनुत्तरित प्रश्न का जैसे उत्तर कवि को मिल गया है इसीलिए नयनों में तिरता रूप का सागर और उसकी मुस्कान तथा एक-एक पल की छवि का अंकन कवि का मुख्य अभिप्रेत है।

आज हँस दीं
स्नेह की यह ग्रन्थि तुमने आज सहसा और कस दी

गा उठीं तुम
प्रणय कम्पन-सी हृदय में आज सहसा छा उठीं तुम

लौटकर आये सुखद सपने

कवि की भाषा में जैसे प्रेम का एक आत्मविश्वास आ गया है और अब वह इस प्रणय को भय-लज्जा की बलि-वेदी पर चढ़ाने को तैयार नहीं है। इन कविताओं में बिन्दु शब्द का बार-बार प्रयोग ग़ौरतलब है। आगे की कविताओं में लगातार प्रेम के प्रति कवि का खुला संवाद और प्रेमिका को दिल दे जाने की 'वसीयत' ताकि वह प्रेम करके भी पतिव्रता बनी रहे—एक ऐसी अटूट-अडिग आस्था है, जो उसे हर भटकाव और अवसाद से बचाती है। तब बस यही उसकी एकमात्र साध रह जाती है—'तुहिन बिन्दु बनकर छू लूँ मैं तेरा कनक प्रभात'।

आ गयी बूँद
आ गयी याद
छायी श्यामा
छाया प्रमाद
के बाद
उभरा जीवन
उभरा पानी
बिखरा पावस
बिखरा मानी

(*बहुत बाक़ी है*, पृ. 15-16)

से ही जैसे प्रेम की परिक्रमा पूरी होती है। शिशिर की शामों में उदास प्राण लिए प्रेमी के पास शब्द कम अनुभूति अधिक है। 'क्या भूल गयीं' ? के वे युग दिन क्या यों ही उड़ाये जा सकते हैं ? तब हर पथ में आकर्षण है, हर जगह छवि के बन्धन हैं। आसक्ति एक ऐसे राग में बदल गयी है, जहाँ विराग दुर्घटना की बजाय अनिवार्य नियति है प्रेम की।

चल पड़ूँ मैं जब विदा ले इस जगत से,
तुम मुझे देना भुला

यही आत्मा का सुख है। इस तृप्ति के बाद ही जैसे कवि को कविता के सामाजिक पक्ष का बोध हुआ और उसे लगा कि कविता का पथ केवल प्रेम नहीं है—सामाजिकता से रहित। और वह एकमात्र सम्पत्ति नहीं है। भारत जी प्रेम के इसी केन्द्र से सामाजिकता की परिधि तक की सुरक्षित यात्रा करके बार-बार कविता में लौट आते रहे।

प्रेम के आवेश का विकल्प क्या सामाजिकता का अतिवादी आवेश है। कमज़ोर प्रतिभाएँ दोनों के द्वन्द्व में मारी जाती हैं। क्रीड़ा, स्पंदन, स्वप्निल, तंद्रिल शब्दों के प्रयोग से जैसे छायावादी कविता नहीं लिखी जा सकती, वैसे ही वर्गयुद्ध, शोषण, मज़दूर, पूँजीवाद, बुर्जुआ शब्द प्रगतिवादी कविता की गारण्टी नहीं हो सकते—भारत जी को यह समझ इन रास्तों से गुज़रने के बाद ही आयी। वरना तो मार्क्सवाद को समाज के लिए रामबाण माननेवाला कवि अति-उत्साह एवं उतावली में कविता में रात-दिन 'जागते रहो' की पहरेदारी और यान्त्रिक नारेबाज़ी में ही लगा रहता। मार्क्सवाद उनके आत्मसंघर्ष का उस तरह हिस्सा नहीं हो पाया—जैसा मुक्तिबोध के लिए था। नेमिचन्द्र जैन के साहचर्य में लगा मार्क्सवाद का ऐसा चस्का कि 'दिन में मिल मालिक का हुकुम बजाना और रात में साम्यवादी साहित्य लिखना-पढ़ना' और अगले ही संस्करण में मोहभंग 'आज कम्युनिस्ट नहीं हूँ। यही नहीं, अब तो लगता है कि जब कहता था तब भी नहीं था।'

इस द्वन्द्व के लिए भारत भूषण अग्रवाल को लगातार सफ़ाइयाँ देनी पड़ीं। हालाँकि इसके लिए अपने तर्क और वाजिब वजहें थीं। फिर भी आलोचकों के मन में—ख़ासकर वामपन्थी आलोचकों ने इसी वजह से उनके काव्य का अवमूल्यन किया और स्वयं भारत जी के मन में एक अतिरिक्त गाँठ बनी रही, मुक्ति की तमाम घोषणाओं के बावजूद। रामविलास शर्मा ने मुक्तिबोध के हवाले से इस संशयग्रस्त मानसिकता पर तीखा प्रहार किया। हालाँकि उन्हें भी नेमिचन्द्र जैन ने ही 'दुर्धर्ष घृणा के उत्ताप से पीड़ित' कम्युनिस्ट बनाया था। मुक्तिबोध के लिए सुविधा-असुविधा की तरह निष्ठा बदलना उतना आसान नहीं था। मार्क्सवाद उनके आत्मसंघर्ष का ज़रूरी हिस्सा ही नहीं 'जीवन-मरण का प्रश्न था।' भारत भूषण अग्रवाल कवि के रूप में शमशेर जैसे जीवन और मुक्तिबोध जैसी असाधारण मृत्यु की कामना करते रहे। यह उनका अलग तरह का मध्यमवर्गीय आत्मसंघर्ष था और जाहिर है कि उसके मूल्यांकन के लिए अलग मापदण्ड की आवश्यकता थी और है। वरना तो अन्याय ही किया जा सकता है। साधारण नगर के साधारण घर में जन्म लेकर 'असाधारण की चाह' से विकल कवि की यह कामना कि—

यदि साधारण रहना ही मेरी नियति है
तो फिर
कम-से-कम इतना हो मेरा भाग्य :
मेरे इस जीवन का अन्त असामान्य हो।

(*बहुत बाक़ी है,* पृ. 140)

बहुत बड़ी अपेक्षा नहीं है कविता से। ख़ासकर तब जब कवि ने 'कभी भी अपने को हीरो के रूप में नहीं लिया है। बढ़ा-चढ़ाकर अपने को लिखा हो या कोई डींग हाँकी हो, ऐसा नहीं है।' यह विनम्र ईमानदारी ही भारत जी को वार को निष्कवच झेलने का साहस देती थी। 'कनफेशन' के प्रति यही खुलापन उनमें कोई अपराध बोध पैदा नहीं करता। इसीलिए उनमें कोई ग़लतफ़हमी ख़ुद को लेकर नहीं रही, बल्कि उन्होंने कविता में ही स्वीकार किया कि—

जो लिख चुका
वह सब मिथ्या है
उसे मत गहो।
जो लिखा नहीं गया
घुमड़कर भीतर ही रहा
वही सच है
जो मैं देना चाहता हूँ

(*रचनावली,* खण्ड एक, पृ. 402)

क्या यह निरन्तर पथ की खोज एवं सत्य की पहचान ही उनकी कविता का काम्य था ? लेकिन इससे कवि के दो-तीन वर्ष का वह दौर मिटाया नहीं जा सकता जो पथ का भ्रम ही सही, देता रहा।

आगे बिछी है राह
जानता हूँ : यही है वह पथ कि जिस पर मिल सकेगी मुक्ति
मेरी और सबकी मुक्ति
जानता हूँ : यही है वह पथ कि जिस तक पहुँचने की
थी हृदय में चाह
जी में था अतुल उत्साह।

(*तार सप्तक*, पृ. 93)

यह केवल भारत जी का उत्साह न होकर बुद्धि का भी निर्णय था—

वर्गवादी—हृदय के कटु व्यूह अति विकराल में
आज पहली बार मुझको मिल सका है ज्ञान मन की परिधि का
असहाय सीमाबद्ध अपनी शक्ति का।

कम से कम इस ज्ञान ने कवि को अहं की सीमित कोटर से बाहर निकालने का काम तो पूरा किया ही। इसी ज्ञान के कारण भारत जी ख़ुद को 'नदी के द्वीप' से अलग मानते रहे—

हम नहीं हैं द्वीप जीवन की नदी के
वरन जीवन से भरे निर्मल सरोवर

(*रचनावली*, खण्ड एक, पृ. 298)

अन्धी श्रद्धा का यह खण्डन 'आ तू मेरे पीछे-पीछे आ' के आह्वान की बजाय 'आने वालों से एक सवाल' के रूप में विवेकसम्मत था और कवि कवियों के समूह से कहीं अलग एक कोने में ईमानदारी के साथ खड़ा था—

कि सौ साल पहले
जिन्होंने तन्मयता से विभोर होकर
आत्मा के मुक्त आरोहण के
या समवेत जीवन के जय के गीत गाए
वे आँखें बन्द किए सपनों में डूबे थे
और मैं
जिसका स्वर सदा दर्द से गीला रहा
जिसके भर्राए गले से कुछ चीख़ें ही निकल सकीं
मैं सारा बल लगाकर

आँखें खोले
यथार्थ को देख रहा था।

(*बहुत बाक़ी है*, पृ. 126)

लेकिन यह बाद की बात है। एक दौर में कवि स्वयं आँखें बन्द किये सपनों में डूबा था। तब उसे 'अपने कवि से' ही रूबरू होकर कहना पड़ा कि 'कितनी संकुचित जीर्ण, वृद्धा हो गई आज कवि की भाषा।' उसके लघु जीवन के एकान्त सत्य-प्रेयसी के लिए प्यार को इस छायामय भाषा ने असत्य, अपदार्थ और हीन सिद्ध कर दिया था। ऐसे में कवि के सामने खोखले, शून्य हुए शब्द जाल को तोड़ने के अलावा कोई विकल्प नहीं था। प्राची के अरुणाभ क्षितिज पर अम्बर की सरसी में फूलता रक्तिम गुलाब और सरसिज तब शोषित दल के उठते बल का एक नया प्रतीक था, जिसके प्रति वामपन्थी कवि और कलाकार बेहद उत्साहित थे। चिर जागरण ही जिनका इष्ट था, उन्हें क्षितिज के पास—

वह उठा तारा, अरे ! वह लाल तारा, नयन का तारा हमारा
सर्वहारा का सहारा
विजय का विश्वास।

(*तारसप्तक*, पृ. 105)

दिखाई देता था।

मुक्तिबोध स्वयं इस अरुण कमल को पाने को झील के हिमशीत सुनील जल में धँसने को तैयार थे और रहस्यमय व्यक्ति में उन्हें अब तक न पाई गयी अभिव्यक्ति नज़र आती थी जो सम्पूर्ण सम्भावनाओं, निहित प्रभावों और प्रतिभाओं की अवस्था तथा आत्मा की प्रतिमा लगती थी। भारत भूषण अग्रवाल को यह स्थिति काफ़ी बाद में दिखाई दी। तब वे इस—

नयी राह पर
पैठने दो नीचे और नीचे इस अतल में
जहाँ इस आसक्ति का स्रोत है
जहाँ मेरी अभिव्यक्ति का
अ-भूत चिरवांछित अपरूप मोती है।

के लिए विकल हो उठे—भले अब देर हो चुकी थी। यही वह तड़प थी जो भारत जी को अज्ञेय और मुक्तिबोध के बीच मुक्तिबोध को काम्य बनाती थी। लेकिन एक दौर वह भी था, जब कविता और समाज में उन्हें लाल ही लाल निशान चारों ओर दिखाई देते थे। वर्ग स्वार्थ की पीड़ा से रोगी समाज का एकमात्र हल क्रान्ति दिखाई देती थी। वर्ग और पूँजी का समाज ज़िन्दगी की सड़क पर चक्कर काटती परिस्थितियों का पिता एवं विकल मन की सीमाओं का एकमात्र स्रोत नज़र आता

था। तब हिटलर के अधिनायकत्व और जय के क्रूर स्वप्न से जगती जनता को बचाने के लिए शोषण की सत्ता को चूर-चूर कर देने का आह्वान ज़रूरी था। 'पूँजीवाद की ऐतिहासिकता' एक की प्रगति और दूसरों की अगति का तार्किक कारण प्रस्तुत करती है। ऐसे माहौल में शाश्वत संस्कृति और कवि के शाश्वत मनोभावों से अलग भौतिक समाज के नवनिर्माण की कल्पना, वर्ग युद्ध में निर्णायक भागीदारी की बात कविता से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हो चुकी थी। शोषणविहीन समाज का यह सपना लेनिन के बिना कैसे पूरा हो सकता था। रूस और चीन का समाज आदर्श बन चुका था, क्योंकि पुरानी नींव पर नया घर नहीं बन सकता था। 'राष्ट्र हित का क्षुद्र नारा' भी इस लक्ष्य से विचलित कर सकता था, अतः उसे भी तिरस्कृत करना आवश्यक था। 'सेकेण्ड फ्रंट' खोलकर ही पूँजीवादी दुर्ग के खम्भों को गिराया जा सकता था। बाहर से आये इस अन्तर के आह्वान के मुक्तिमार्ग, नव्य ज्ञानालोक की पूरम्पूर अयाचित स्फूर्ति, लाल तारे की प्रभा से फूटते मुक्ति-संगीत से ही कवि को मौलिकता का रास्ता निकालना था। लेकिन यह मुक्ति किसी अन्य तरह की थी—जहाँ 'मुक्त करो/मुक्त रहो ही साध्य है/हँसी, गन्ध, गीत सब मुक्ति में हैं/ मुक़्ति ही सौन्दर्य का अन्तिम प्रमाण है' (*रचनावली,* खण्ड एक पृ. 332)। तभी 'साधारण-सी बात भी कविता बन जाती है।' उसके लिए लम्बे-चौड़े सिद्धान्तों और भारी-भरकम शब्दावली की ज़रूरत नहीं रह जाती।

कविता के इस मर्म को जानने पर ही बाहरी बोझ, आतंक की तरह लदी विचारधारा के लबादे को भारत भूषण अग्रवाल ने उतार फेंका और अपनी असली मध्यवर्गीय दुनिया में लौट आये। प्यार को भार और मुक्ति को व्यापार बनता देखकर उनका कवि मन विद्रोही हो उठा और उसने हल्का-फुल्का-सहज होने के लिए व्यंग्य को हथियार बनाया। भूल का सहज स्वीकार कवि की आन्तरिक ईमानदारी का प्रमाण है। नेह चुक जाने और बाती जल जाने पर चीत्कार और व्यर्थ अनुनय की बजाय वस्तुस्थिति का स्वीकार ही मुक्ति का पथ है। पथ की यह खोज भारत भूषण अग्रवाल को ज़िन्दगी भर रही, क्योंकि—

जितने भी पथ थे
सबकी परिणति होती है अँधियारे में।
प्राणों के पन्थी
सहमे, सिमटे बैठे हैं गलियारे में।

(*रचनावली,* खण्ड, एक, पृ. 323)

इसलिए उन्हें पथ की खोज में कई बार मोहभंग का शिकार होना पड़ा। वामपन्थी यान्त्रिक कविता के जुलूस की हक़ीक़त उन्हें जल्दी समझ आ गयी, क्योंकि वह उनका गन्तव्य नहीं हो सकती थी। इसीलिए उनके सामने धर्म-संकट खड़ा हो गया,

जब उन्हें लगा कि–

भूलो अब जय को
जयकारों के हो जाओ
भावों को भूलो, और
नारों के हो जाओ
नीड़ों से निकलो, और
भीड़ों में खो जाओ।

(*रचनावली*, खण्ड 1, पृ. 342)

अतः उन्होंने जुलूस का साथ छोड़कर अकेले ही जूझने का मार्ग चुना और खुलेआम स्वीकार किया कि 'कविता अस्त्र नहीं है–न मूल्यवान, न अमूल्य। कविता को अस्त्र मानकर चला ही था (जागते रहो) कि मैं स्वयं अस्त्र बन गया और मेरी कविता ऐसी यंत्रलिपि कि उसमें अपने मन का स्पंदन सुनाई ही नहीं पड़ता था।' जिन प्रतिश्रुतियों की माया में पड़कर भारत जी अगति या दुर्गति को प्राप्त हुए थे, वहाँ उनकी कविता का स्रोत ही सूख चला था। उस जुलूस से ख़ुद को अलग करके कवि ने रास्ते की पुलिया पर बैठकर दृश्य का सर्वेक्षण करके अपनी निराली पगडण्डी निकालकर काव्य के प्रशस्त पथ पर आने की चेष्टा की 'मुक्तिमार्ग' से 'ओ अप्रस्तुत मन !' के बीच की यात्रा का यह बयान भारत जी ने पुनरुक्ति दोष से डरे बिना बार-बार किया। कविता में भी कहने से वे नहीं डरे कि

तुम्हारे साथ मुश्किल यह है
कि तुम उसी बीज को उगते देखना चाहते हो
जिस पर तुमने दस्तख़त कर दिये हैं।

(यथोपरि, पृ. 430)

इसीलिए प्रतिश्रुत यानी पक्षधर कवि से अधिक दयनीय प्राणी उनके लिए दूसरा नहीं रहा। यही शिकायत उन्हें प्रतिबद्ध आलोचना और आलोचकों से रही, जिन्होंने 'अपने मन में कवियों का वर्गीकरण और मूल्यांकन कर रखा है', क्योंकि उन्हें 'सत्साहित्य की चाह नहीं है, पक्ष पुष्टि की चाह है और कविता में–यानी सच्ची कविता में–पक्ष पुष्टि नहीं होती, यथार्थ होता है; सत्यान्वेषण का व्रत ही भारत जी को उपलब्धि की बजाय निषेध के नेति नेति तक ले आया। जहाँ 'कला व्यक्ति के प्रकाश के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होती।'

यह मार्क्सवादी दर्शन के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया कम, मार्क्सवादियों की असफलता के प्रति चिढ़ अधिक थी क्योंकि कवि की दृष्टि में उन्होंने 'भारत की समस्याओं का हल ढूँढ़ने में जो नक़लबाज़ी और उतावली दिखाई थी–हर समस्या को वे जिस तरह आनन-फानन में पानी-पानी कर देते थे उससे कभी-कभी चिढ़ भी छूटती थी

और हँसी भी आती थी। जीवन चाहे व्यक्ति पर समाप्त न हो, शुरू वहीं से होता है और जब मैंने देखा कि उनके लेखे व्यक्ति मात्र एक अंक है एक लम्बी-चौड़ी संख्या में, तो मन खट्टा हो गया।' (प्रसंगवश, पृ. 33)। राजनीति के भभ्भड की बजाय समाज दर्शन के दरवाज़े से मार्क्सवाद तक पहुँचे भारत जी की गहरी आस्था नाम जप की बजाय व्यंग्य के तीखे प्रहारों द्वारा मूर्तिभंजन में बदलने लगी। तब कविता की लौ को जलाये रखने के लिए उन्हें मित्रों की खीझ, रिश्तेदारों की झिड़कियों, पड़ोसियों की ईर्ष्या, शत्रुओं की चालबाज़ी, अफ़सरों की धमकियों, मूर्खों की बर्राहट और प्रतिद्वन्द्वियों की बौखलाहट में कच्चा माल मिलने लगा और वे पूछने लगे—

जिसने झेला नहीं, खेल उसने क्या खेला

*　　*

रस में ये डूबे पल
कानों में कह गये
तपने से डरते थे ?
इसीलिए देखो
तुम आज सूखे रह गये।

*　　*

रेत का महल
कोरी कल्पना है
इसीलिए
कोरी कल्पना की कला
रेत का महल है।

क्रान्ति को पार्कों और फ़व्वारों में घटाकर समाजवाद को लॉटरी के टिकटों, आधुनिकता को फिल्मों, विकास योजना को टेलीविजन के टावर में समेट लेनेवाली संस्कृति को केवल कविता में नारेबाज़ी से ख़त्म नहीं किया जा सकता। कविता से क्रान्ति का काम लेना छोड़कर भारत भूषण अग्रवाल ने कुछ ग़लत किया क्या ?

यों भारत जी ने इस दौर में भी नारेबाज़ी से अलग शोषण के विरुद्ध कुछ मानवीय कविताएँ लिखी थीं। 'सुखिया उठी' और 'वे हाथ' ऐसी ही कविताएँ हैं। सुखिया के घर के सम्मुख लगा चुंगी का नल जैसे सारी मज़दूर बस्ती के परिवारों के यातनापूर्ण जीवन का पंचायतघर है। मिल मालिक से हुई कहासुनी के कारण पति की नौकरी छूटने के बाद सुखिया की दुखिया माँ जिस तरह से दिन भरती है, वह औसत मज़दूर परिवार का यथार्थ है। जवान सुखिया को तो सपने देखने की भी इज़ाज़त नहीं मिलती। माँ की डाँट खाकर जाड़े में काँपती-सिकुड़ती, उँगलियों से थकी हुई जलती आँखों को मलती सुखिया पत्थर तोड़ती मज़दूरनी से किस तरह

कम है। शोषित के प्रति भारत जी की यह करुणा कम्युनिस्ट न होने के बावजूद अन्त तक बनी रही, बिना प्रतिबद्धता की खुली घोषणा के। यहाँ यह बात ख़ासतौर पर ध्यान योग्य है कि भारत भूषण अग्रवाल और नेमिचन्द्र जैन दोनों ने व्यावहारिक मार्ग को चुनते हुए भी मार्क्सवाद के अवदान को न तो कभी नकारा, न उसका विरोध किया, न उसके विरोधियों में शामिल हुए। यहाँ तक कि प्रगतिशीलता की उदार धारा में दोनों के तर्कों को ध्यान से सुना गया। भारत भूषण अग्रवाल ने तो 'अमरीकी आँख' कविता में खुलकर आधुनिक तकनीक और उसके पीछे छिपे षडयन्त्र की पोल खोली। यह आलोचना हिटलर की आलोचना से कम तीखी नहीं थी। आज जिस अमरीकी साम्राज्यवाद का चारों ओर बोलबाला है, वह 1952 में उतना प्रभावी भले न रहा हो, नयी कविता की धारा में उपस्थित था। तमाम देशों को तरह-तरह से आत्महत्या के साधन उपलब्ध कराता अमरीकी तंत्र कितना घातक हो सकता है, यह वियतनाम युद्ध और सोवियत संघ के विघटन से साफ़ हो चुका है। विविध विषयों के गुणी, विद्वान, पण्डित, विशेषज्ञों की लड़ी उपलब्ध करवाकर देशों की अर्थव्यवस्था पर क़ब्ज़ा करने की 'नागपाशी योजनाएँ' अब खुल चुकी हैं। इस अमरीकी विदेशी आँख—

जिसके लगाते ही जँचे यह भूमि सारी स्वर्ण की,
दुख सुख बने
स्वातन्त्र्य बन जाये ग़ुलामी
नरक में भी स्वर्ग का आनन्द आये।

(*रचनावली*, खण्ड एक, पृ. 278)

किसी एक नज़र से छिपी नहीं है। कवि के पक्के स्वदेशी मित्र भी धुँधली निगाह से बचने को इसे मुक्ति का सहज सस्ता पथ समझकर, लगवाकर अजीब द्वन्द्व में फँस गये। उनके अन्तर्नयनों से इन नयी आँखों की छिड़ी भीषण लड़ाई में कष्ट भोगकर विदेशी आँख वाले वणिक—प्रतिनिधि का निष्कर्ष—कथन कि—

फूट जायँ जब तलक दोनों न ही की
काम कर सकती नहीं यह आँख अमरीकी

सत्य है। भारत जी की भविष्य दृष्टि को जो लक्ष्य लगभग पचास वर्ष पूर्व सूझ चुका था, वह इसी वामपन्थी अनुभव का परिणाम था और हमें घटित होता दिख रहा है। इकहरे अनुभव से इस सत्य को देखना बिलकुल असम्भव था। व्यंग्य के पैनेपन के बिना चीज़ों के आर-पार देखने की बेधक दृष्टि मिल भी नहीं सकती थी। पथ की खोज में भारत भूषण अग्रवाल को यही अस्त्र हासिल हुआ, जिसका अचूक प्रयोग उन्होंने अन्त तक किया।

5

कविता का सहज मार्ग

व्यंग्य–आत्मव्यंग्य और प्रयोग

छायावादी काल्पनिक आदर्शवाद के बाद हिन्दी साहित्य निरन्तर विश्व और राष्ट्रीय राजनीतिक-सांस्कृतिक परिदृश्य की तमाम जटिलताओं तथा अन्तर्विरोधों से रूबरू था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के शीतयुद्ध की छाया से हिन्दी-साहित्य अलग भी कैसे रह सकता था। इस युद्ध की भयावह अमानुषिकता के फलस्वरूप योरप एवं अन्य देशों के साहित्य और विचार जगत में व्यक्तित्व के विघटन, आत्मनिर्वासन, अलगाव, रैकरण, अस्मिता की अस्तित्ववादी शब्दावली ही इस नये यथार्थ को अभिव्यक्त करने में सक्षम हो पा रही थी। मैक्सिम गोर्की सैद्धान्तिक और दोस्तायव्स्की, काफ़्का, कामू और सार्त्र व्यावहारिक स्तर पर इस यथार्थ का सामना कर रहे थे। शिक्षित मध्य वर्ग पर इसका सर्वाधिक प्रभाव था। कहा जाए, वही इस बीमारी से सबसे अधिक पीड़ित था। हिन्दी में मुक्तिबोध इस प्रवृत्ति के स्वाभाविक प्रतिनिधि थे और यही आत्मसंघर्ष उनकी प्रामाणिकता का प्रमुख कारण था। इस मामले में सुव्यवस्थित और सुसंगत मार्क्सवादियों की अपेक्षा मुक्तिबोध के काव्य का केन्द्र में आना बहस को दोनों अतिवादों की ओर खोलता था, क्योंकि अज्ञेय के पक्ष पर तो किसी को सन्देह ही नहीं था। इस अर्थ में अस्तित्ववादी विचारधारा द्वितीय महायुद्ध के बाद विश्व पूँजीवाद के प्रसार का माध्यम थी। युद्धोत्तरकाल के अवसरवादी और प्रतिक्रियावादी विचारों के विरोध में जनोन्मुख रचना का संघर्ष मुक्तिबोध के काव्य नायकों का काम्य बना। उनकी कविता के 'मैं' का व्यक्तित्व दो चरित्रों में विभक्त हो गया। एक रहस्यमय व्यक्ति अक्सर उनकी कविता में अनेक रूपों में झलकता और झाँकता हुआ दिखाई देता है। दोस्तायव्स्की के 'अण्डरग्राउण्ड मैन' की तरह मुक्तिबोध का गुहावासी ब्रह्मराक्षस काव्य नायक के तीखे अन्तर्द्वन्द्व

का प्रतीक है। प्रश्न उठता है क्या यह विभक्तीकरण की प्रवृत्ति मुक्तिबोध की अन्तर्विरोधी आत्मसंघर्ष की परिस्थितियों का प्रतिफल थी या सिज़ोफ्रेनिया का निजी मानसिक रोग थी। उनके काव्य की वर्गचेतस् आलोचना से उस दौर की रचनाशीलता के आन्तरिक तत्त्वों को सही परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास होना चाहिए।

यही वह पृष्ठभूमि है, जिसमें भीतरी और बाहरी कठिन पाटों के बीच पिसे व्यक्ति की नीच ट्रेजिडी का संकेत निहित है। विष्णु खरे ने अकारण ही भारत भूषण अग्रवाल की कविता को समझने के लिए इस संकेत को उचित नहीं माना है। बल्कि अज्ञेय और मुक्तिबोध के ध्रुवांतों के बीच औसत कामकाजी शहरी मध्यवर्गीय व्यक्ति की तमाम जटिलताओं को भारत जी की कविता में असली रूप में पाया जा सकता है। इस मायने में उनकी कविता मध्यवर्गीय मन का प्रामाणिक साक्ष्य है। सामाजिक दायित्व से बचकर साहित्य रचने की प्रवृत्ति के लिए उन पर ही सबसे अधिक प्रहार किये गये और सबसे अधिक सफ़ाई भी इस मामले में उन्हें ही पेश करनी पड़ी।

'मुक्तिमार्ग' के बाद की भारत भूषण अग्रवाल की काव्य यात्रा मध्यवर्गीय काव्य मन का दस्तावेज है। उस दौर में मध्यवर्गीय व्यक्ति ही सबसे अधिक ऊहापोह एवं संशय की स्थिति से ग्रस्त था। 'आज की दुनिया में कवि-कर्म दिनोंदिन कठिन होता जा रहा है' का अनुभव करनेवाले भारत भूषण अग्रवाल का आत्मसंघर्ष उपेक्षणीय नहीं था। उन्होंने अपनी कविता में मध्यवर्गीय व्यक्तित्व को विघटित और विभक्त कर देने वाली परिस्थितियों की जटिलता को सम्पूर्ण वैविध्य में प्रस्तुत किया। यही उनकी कविता का सहज, सुरक्षित और सुविधाजनक मार्ग था, जिसमें वे अपने आस-पास की बारीकियों को काव्याभिव्यक्ति प्रदान कर सकते थे। इसी ज़मीन पर खड़े होकर वे रोज़ी-रोटी-घर-परिवार को सुरक्षित रखते हुए कविता से जुड़े रह सकते थे। अपनी 'मध्यवर्गीय कवि हृदय की स्थिति' का सजग बोध उन्हें बराबर बना रहा। समाज और व्यक्ति के जीवन के आदर्शों एवं यथार्थ के बीच की दूरी के कारण खोखली कविता ही लिखी जा सकती है—जिसमें सामाजिकता और ज़िन्दगी की कशमकश का अभाव होगा। भारत भूषण अग्रवाल इसी मध्यवर्गीय विवशता एवं छटपटाहट के कवि हैं, किसी निर्णय और निष्कर्ष पर पहुँचे हुए कवि नहीं। इसीलिए वे बार-बार कहते हैं, "मेरी कविता एक अजीब तरह से व्यक्तिगत कविता है, वह जनसाधारण से दूर है, उसमें केवल अपने मन की निराशा और व्यथा का ही क्रन्दन और सोच है। ...आज के समाज में मध्यवर्गीय व्यक्ति की स्थिति बड़ी ही शोचनीय है। मामूली तरह से रहना भी बड़ा कठिन काम हो गया है। हमारे जीवन को जो शक्तियाँ संचालित और निर्धारित कर रही हैं, वे इतनी विराट और प्रबल हैं कि उनको वश में करना तो दूर, आसानी से वे समझ में भी नहीं आतीं।" (*प्रसंगवश*, पृ. 17) 'ओ अप्रस्तुत मन !' तक आते-आते कवि का यह अकेलापन और अप्रस्तुत

को प्रस्तुत करने की द्विविधा और संकोच गहरा होता जाता है एवं समकालीन काव्य-धाराओं में ख़ुद को विचित्र स्थिति में पाना और वादों, सम्प्रदायों एवं संगठनों के घटाटोप में अकेला महसूस करना—कविता के माध्यम से किसी परम-तत्त्व को न खोज पाने का अपराध बोध ईमानदारी से ही मुक्त हो सकता है। कविता को अपने मन की निश्छल और सम्पूर्ण अभिव्यक्ति की कोशिश की विनम्रता ही भारत जी की अलग पहचान बनी। यही उनका वैशिष्ट्य और अवदान है, जो रेखांकित किया जाना चाहिए, भले ही मध्यवर्गीय मन की कला साधना जन्म से ही अभिशप्त हो। सुविधा या प्रशंसा के लाभ में या अधकचरे ज्ञान के भ्रम में पक्षधरता की ओर कवि के झुकाव का मोहभंग भी उतने ही वेग से होता है। तब वह कवि के मौलिक धर्म से च्युत होकर सिद्धान्तकार होकर रह जाता है... चारों ओर का प्रतिकूल वातावरण उसे अकेला बना देता है, यहाँ तक कि उसकी हिम्मत टूटने लगती है। परस्पर विरोधी सिद्धान्तों की टकराहट में टूटने की यह विवशता आज के ताने-बाने की अनिवार्य शर्त है। भारत भूषण अग्रवाल ने आत्मसंघर्ष में आत्मस्वीकार की इसी हिचक और द्विविधा की प्रक्रिया को विभक्त व्यक्तित्व की संज्ञा दी। भले ही यह विघटन कितना ही विचित्र और दयनीय क्यों न लगे। ऐसे में कवि की दृष्टि में "मध्यवर्गीय मन के लिए और कोई राह नहीं है। ख़ासकर ऐसे मन के लिए जो खुला रहना चाहता है, खुला रहकर जीवन के नाना बोध, नाना स्तरीय प्रभावों को ग्रहण कर पचाना चाहता है और वर्तमान की जटिल से जटिल कठिनाइयों से जूझते रहकर भी भाग जाना या ओट खड़ी करना नहीं चाहता।" यह स्वीकार-आत्मविश्लेषण कवि के लिए लज्जा का विषय है भी नहीं, क्योंकि आज की सच्ची कविता निषेध की कविता है।

देश के विभाजन ने इस अन्तर्द्वन्द्व में ऐसी फाँक डाल दी कि आज तक रचनाकार उसका हल तलाश करने में असफल है। यह भी शीतयुद्ध का एक ऐसा साम्राज्यवादी हथकंडा था कि तमाम सद्भाव के बावजूद जहाँ का तहाँ अटका हुआ है। आज़ादी के बाद रचनात्मक बौद्धिक जगत इस घटना के आतंक से आज तक मुक्त नहीं हो पाया है। यशपाल से मंजूर एहतेशाम तक इस गुत्थी को खोलने में मुब्तिला हैं। भारत भूषण अग्रवाल को भी यह परिदृश्य परेशान करता था। वे चिन्तित थे कि 'बंगाल के अकाल में जो जनता भूखों मर गयी पर विद्रोह न कर सकी, वही जनता तीन साल बाद साम्प्रदायिक हत्याकांड पर कैसे उतर आयी, यह बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न था, जिस पर ध्यान दिया जाना था, पर नहीं दिया गया। इसी प्रकार जो नौकरशाही साम्राज्यवाद की ऊँटनी थी वह समाजवाद की मोटरकार कैसे बन सकती थी—यह भी किसी ने नहीं सोचा। हमारा हाल का इतिहास भी बड़ा निर्मम रहा है : मुक्ति का फल विभाजन के विष से सड़ गया, समाजवाद का सपना

राजनीतिक दलों की पल्लवग्राहिता के कारण जड़ न पकड़ सका और शिक्षा का वरदान विदेशी भाषा की बल्ली के कारण बीरबल की खिचड़ी बन गया' (*एक उठा हुआ हाथ,* पृ. 7)। भारतीय यथार्थ से मोहभंग की खाई निरन्तर चौड़ी होती गयी है—प्रश्न और विशालकाय रूप में सामने हैं। पश्चिम पर हमारी निर्भरता बढ़ती गयी है। मुट्ठी भर आधुनिकों और बहुसंख्यक जनगण के बीच का फ़र्क़ किसी योजना आयोग के बस का नहीं है। देश की अगति पर व्यंग्य करके निरक्षरता, आलस्य, रूढ़िवादिता एवं परलोक वृत्ति पर प्रहार करने की तैयारी और कृत्रिमता से जूझने का संकल्प ही परिस्थितियों को बदल सकता था, पर 'जिस तरह हमारे ऊपरी प्रयास देश की राजनीति-अर्थनीति को गतिशील नहीं बना पाये हैं, उसी तरह साहित्य भी किसी कार्नीवाल के 'ज्वाइण्टह्वील' में चक्कर खाता रहा है और उसी को उत्तेजना-यात्रा का सुख मान रहा है।' भारत भूषण अग्रवाल चपटी और इकहरी दृष्टि से सोचने पर इस अनुभव को काव्य का हिस्सा शायद ही बना पाते ?

देश के विभाजन के पूर्व सारे रंगों के भारतीय नागरिकों और बौद्धिकों का ध्यान आजादी के लक्ष्य पर केन्द्रित था। आन्दोलन-आलोचना और व्यंग्य की धाराएँ उसी दिशा में सक्रिय थीं। विभाजन के तुरन्त बाद तो नहीं, लेकिन जल्दी ही नेतृत्व और नौकरशाही से बौद्धिकों का मोहभंग शुरू हो गया। इसी अनुपात में व्यक्तित्व का विभाजन भी शुरू हुआ। इस सन्दर्भ में भारत भूषण अग्रवाल की 'मैं और मेरा पिट्ठू' कविता में स्पष्ट रूप से यह विभाजन दिखा। यह स्थिति मुक्तिबोध की कविता से अलग और विशिष्ट थी। यहाँ एक क्लर्क और उसके पेट के पिट्ठू की विभक्त जीवन-शैली का फ़र्क़ मध्यवर्गीय औसत व्यक्ति के अनुभव का निजी ऐतिहासिक अर्थ रखता है। इस आत्मसंघर्ष में वर्गचेतना का तीखापन भले कम हो परिस्थितियों की वास्तविक समझ और सम्वदेना सच्ची है। पूँजीवादी व्यवस्था का यह अभिशाप भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था के मॉडल को अपनाने की प्रक्रिया में ही सामने आने लगा था। मध्यमवर्गीय मिथ्या चेतना का संक्रमण तुरन्त वर्गचेतना में हो भी नहीं सकता था, आज तक नहीं हो पाया है। अतः भारत भूषण अग्रवाल की इस तरह की तमाम कविताएँ सच्चे और प्रामाणिक साक्ष्य के रूप में बेहद प्रासंगिक हैं। 'चीरफाड़' तो उनकी ऐसी महत्त्वपूर्ण कविता है कि उसकी तुलना मुक्तिबोध की उसी तरह की कविताओं से करने पर जटिलता और सरलता तथा सहजता का अन्तर जाना जा सकता है। इस मायने में 'चीरफाड़' की व्यापकता एवं गहनता 'अँधेरे में' से किसी तरह कम नहीं है, बल्कि 'चीरफाड़' की खरी आत्मालोचना एक मध्यमवर्गीय व्यक्ति की वास्तविक आत्मस्थिति का ईमानदारी भरा बयान है।

पूँजीवादी व्यवस्था में व्यक्ति ही नहीं समाज, देश और विश्व का कई स्तरों पर विघटन होता है। सिद्धान्त और व्यवहार, शब्द और कर्म के बीच का फ़र्क़ निरन्तर

बढ़ता चला जाता है। संक्रमण की इस प्रक्रिया से गुज़रे बिना ऐसे समाज की स्थापना नहीं हो सकती, जो व्यक्ति को निर्विघ्न रूप में विकास का माहौल उपलब्ध करा सके। इस विघटन से उत्पन्न विसंगतियों और विरोधाभासों के द्वन्द्व में ही प्रामाणिक सृजन सम्भावित है। द्वितीय विश्वयुद्ध की तबाही से ही काफ़्का और दोस्तायवस्की के एब्सर्ड यथार्थ का जन्म होता है जो अत्यन्त भयावह है और चेतना पर पड़ने वाले चरम दबावों से विघटित रूपों का साक्षात्कार कराता है। एक शान्त-सुव्यवस्थित जीवन में दुःस्वप्नों-दुर्घटनाओं का अराजक तूफ़ान प्रवेश करके उसे अस्त-व्यस्त कर देता है। हिन्दी कविता में मुक्तिबोध की जटिल फ़ैंटेसियों का इस यथार्थ से गहरा सम्बन्ध है। भारत भूषण अग्रवाल की कविता में भी इस यथार्थ के सरल और सहज संकेत विद्यमान हैं। विश्वयुद्ध में विमानों की बम वर्षा कवि की चेतना पर जो भयावह प्रभाव डालती है, उसमें अख़बार के पन्नों से चीख़ों का सुनाई देना, चम्मच की खनखनाहट में गोलियों की गूँज और 'टी-कोजी' पर कढ़े जापानी डिजायन में उड़ते बलाक वियतनामी आसमान के बमबार दिखने लगें तो आश्चर्य क्या ? दो युद्धों के बीच के समय का अन्तर इस यथार्थ की समानता के कारण मिट जाता है। युद्ध का यह अमानवीय रूप आतिशबाज़ी से डरे चौपहिये के बैलों के रस्सी तुड़ाकर भागने और परमाणु बम के गिरने से हुए भयावह दृश्य के बीच संगति बैठाता है।

भारत भूषण अग्रवाल अक्सर कविता में कविता से बड़े सवालों से जूझने का साहस करते हैं। इसलिए जो लोग उन पर सामाजिक दायित्व से बचकर साहित्य रचने का आरोप लगाते हैं, उनकी दृष्टि इकहरी और बेहद स्थूल है। 'आनेवालों से एक सवाल' करते हुए वे इस विरोधाभास पर उँगली रखना अपना दायित्व समझते हैं, जहाँ स्कूलों में पढ़ाया जाएगा कि सौ वर्ष पहले—

इन्सानी ताक़तों के दो बड़े राज्य थे
जो दोनों शान्ति चाहते थे
और इसीलिए दोनों दिन-रात युद्ध की तैयारी में लगे रहते थे
जो दोनों संसार को सुखी देखना चाहते थे
इसीलिए सारे संसार पर कब्ज़ा करने की सोचते थे

विश्व की इस विचित्र अन्तर्विरोधी स्थिति से अलग भारत भी नहीं है, जो—

संसार भर में शान्ति का मन्त्र फूँकता रहा
पर जिसे अपने ही घर में
भाई-भाई के बीच दीवार खड़ी करनी पड़ी,
जो हर पराधीन देश की मुक्ति में लगा रहता था
पर जिसके अपने ही अंग बन्धन में जकड़े रहे।

(बहुत बाक़ी है, पृ. 125)

भारत की यही विरोधाभासी स्थिति आगे बढ़ती रही और यहाँ तक पहुँच गयी कि—

गाँवों में समाजवाद, शहरों में पूँजीवाद, दफ्तर में सामन्तवाद
घर में अधिनायकत्व है।
कभी-कभी लगता है
यही भारतत्व है।

(*उतना वह सूरज है*, पृ. 53)

आज़ादी के बाद के भारत पर इतने कम शब्दों में सटीक टिप्पणी करनेवाली कविता लिखनेवाले भारत भूषण अग्रवाल की यह निराशा उनके अकेले की नहीं है। आज भी थोड़ी सी चमक-दमकवाली आधुनिकता के अलावा इस विसंगतिपूर्ण स्थिति में कोई फ़र्क़ नहीं आया है। नेहरू जी के पश्चिमोन्मुख लोकतन्त्र पर साम्राज्यवाद की पकड़ मज़बूत होती गयी है। गाँधी जी की ग्रामीण आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था और स्वदेशी की भावना अप्रासंगिक होती गयी है। भारत भूषण अग्रवाल की कविता में मध्यमवर्गीय सपनों से मोहभंग की स्थिति पौराणिक मिथकों के अर्थ भी बदल देती है। टूटे सपनों का यह सपना हास्यास्पद होकर भी विसंगति को ऐतिहासिक और आधुनिक काल-बोध के परिदृश्य में खड़ा कर देता है कि—

मेनका अस्पताल में नर्स हो गयी है,
और विश्वामित्र ट्यूशन कर रहे हैं,
उर्वशी ने डांस स्कूल खोल दिया है,
नारद गिटार सीख रहे हैं,
गणेश टॉफ़ी खा रहे हैं,
और बृहस्पति अंग्रेज़ी से अनुवाद कर रहे हैं।

(*बहुत बाक़ी है*, पृ. 122)

जनतन्त्र की इस विसंगति में टंकी फटने से शब्दों का जो भयंकर रेला अर्राता हुआ सबको निगलने आ रहा है, उसमें तमाम आदर्श विकृतियों में बदलकर सब कुछ को अर्थहीन बनाने पर तुले हैं। पूरे देश से आज़ादी पाने के लिए उत्पन्न उत्साह व्यर्थता के भाव में तब्दील हो गया है। मुक्तिबोध के यहाँ पर व्यर्थता तल्ख़ थी, भारत जी के यहाँ व्यंग्यात्मक है—

खेत से उठाकर किसान को हल-बैल समेत
विज्ञान भवन की दीवार पर लटका दिया गया है
और बालियाँ लोहे की हो गयी हैं।

(*एक उठा हुआ हाथ*, पृ. 55)

इन हालात में गाँधी सिर्फ़ टूरिस्टों द्वारा माल्यार्पण के पात्र भर रह गये हैं।

आज की हलचल भरी संघर्षमय ज़िन्दगी में मध्यवर्गीय कवि हृदय दयनीय हो गया है। सिवा विसंगतियों पर व्यंग्य करने के कुछ करना उसके वश में नहीं है। तब निराशा, व्यर्थता और अपूर्णता का बोध, अपने से दूर, ऊपर, परोक्ष शक्तियों से अनुप्रेरित-अनुशासित होते रहने की विवशता, अपनी सीमित शक्ति की व्यर्थता के प्रति खीझ और अपने छोटे से छोटे सपने को भी पूरा न कर सकने की झुँझलाहट कवि का स्थायी भाव बन जाती है। आत्मविश्वास रहित इस यात्रा में आत्मप्रवंचना कविता का रूप लेकर भी मुठभेड़ का शास्त्र नहीं बन सकती—

स्वप्न मत गढ़ो
काव्य मत पढ़ो

*

सपने हैं थोथे
मिथ्या हैं पोथे

*

दिन हो या रात
सपनों का साथ
कविता का पाठ
मिथ्या जगत में तुम्हें उलझाएगा।

(*बहुत बाक़ी है*, पृ. 108-109)

इससे बड़े सामाजिक दायित्व की कविता और क्या होगी ? एक लम्बे उद्घाटन भाषण में बैठे देश की यह नियति कब समाप्त होगी, ऐसा कोई नेतानुमा कार्यक्रम कवि के पास नहीं है। परम्परा से प्राप्त विराट का दर्शन भी इसमें उसकी कोई मदद नहीं कर पाता। पूर्वजों से प्राप्त ज्ञान, ईश्वर और धर्म के प्रति कवि के बौद्धिक प्रश्न अंधविश्वास की बजाय वैज्ञानिक तर्क को प्राथमिकता देते हैं। धर्म के तत्त्ववाद का खुलासा होते ही उसकी आड़ में शोषण करनेवाली ताक़तों का खेल खुल जाता है। देवता के प्रति आस्था के कारण अपना भविष्य, प्रतिभा और शक्ति अर्पित करनेवाले भक्त को पुजारियों का षड्यन्त्र बहुत देर से समझ आता है। समझ में आने पर उस देवता को सावधान करना ज़रूरी लगता है—

मैं तो अब मुक्त हूँ
क्योंकि अपनी स्थिति का ज्ञान ही मुक्ति है,
पर देवता।
यदि तुम निरे पत्थर ही नहीं हो
तो अपने इन पुजारियों से अपनी रक्षा करो।

(*बहुत बाक़ी है*, पृ. 127)

कहने की ज़रूरत नहीं कि ये दलाल पुजारी हर क्षेत्र में व्याप्त रहकर उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर रहे हैं। कवि इन हालात में धूमहीन निष्कलंक तेज ज्योति का वहन करनेवाले पूर्वजों से पूछे बिना नहीं रहता कि इतिहास द्वारा सौंपी गयी अग्निमयी शक्ति की वह मंगल निधि कहाँ गयी ?

कहाँ हैं आज स्वर्णिम शिखाएँ वे ?
क्या उन्हें चुराके ले गया यह उलूक दल
जब तुम थे स्वप्नाविष्ट ?
अथवा वे तुमने स्वयं ही बेच डालीं।

(*बहुत बाक़ी है,* पृ. 132)

उन पूर्वजों का वंशधर कवि किराये के मशालचियों से पैतृक अधिकार-सी उस चिनगारी को निष्ठा तथा पूरी प्रतिबद्धता से बचाये रखना चाहता है। इसी जगत में वह कर्ता, भृत्य और तटस्थ दर्शक की बजाय आमने-सामने सत्य से जूझना चाहता है। यहाँ ज़िन्दगी को अख़बार बनाकर पढ़ते रहने से काम नहीं चलेगा। हर एक से मतभेद रखनेवाले 'इंटैलेक्चुअल' से यह भूमिका अलग है। मध्यवर्ग की संशय-सन्देहों के बीच पैंडुलम की तरह झूलती यह अन्तर्विरोधी लय, जो यथार्थ रचती है—रास्ता उसी के बीच से जाता है। भारत जी की कविता में यह जिस रूप में दिखता है, वह एकांगी दृष्टि से देखने पर भ्रमित भी कर सकता है, क्योंकि वह किसी इकहरी पहचान के चौखटे में बँधने से इनकार करता है। एक ओर यदि वह विक्रय की परम्परा पर व्यंग्य करता है कि—

पहले बिके धर्म पर
फिर बिके भक्ति पर
रूप पर मध्ययुग में बिके—
बिकना तो अपनी परम्परा है।

(वही, पृ. 134)

तो इससे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'पै धन विदेस चलि जात' का भारी दुःख ही अभिव्यक्त होता है। अमृत और विष की बीच समन्वय की राह की तलाश के विवेक के बिना इस दुःख का निराकरण सम्भव भी नहीं है—

विष से अलग, अनपेक्ष नहीं अमृत का अस्तित्व—
मृत्यु या अमृत : ये ही दो परिणतियाँ हैं;
विष देख डर जाना—मृत्यु है।
विष पीके पचा लेना—अमृत की यही परिभाषा है।।

(वही, पृ. 137)

यह अमरत्व भी आत्मप्रवंचना न बन जाये, कवि इसके प्रति सचेत है। संकट

और संघर्ष से बचाव की मुक्ति का मध्यवर्गीय स्वभाव कवि से छिपा नहीं है। कविता के इन क्षणों में बाहरी घटना को मुन्ना-सा बोन्साई रूप देकर या बाङ्ला देश की विभीषिका से उद्वेलित होकर एक सिगरेट कम कर देने भर.से मामला सुलझनेवाला नहीं। व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के प्रयत्नों से कई बार वे और अधिक उलझ जाते हैं। कवि को इस तरह के निरर्थक प्रयत्नों में कोई गहरी आस्था नहीं–

इसने नारे की हवाई छोडी
उसने भाषण की चर्ख़ी
तीसरे ने योजना का महताब
चौथे ने सेमिनार का अनार
पाँचवे ने बहस के पटाखों की लड़ी
छठे ने प्रदर्शन की फुलझड़ी।

(*उतना वह सूरज है,* पृ. 1)

इन सबके उजाले से सामान्य नागरिक और अधिक हतप्रभ एवं किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है और उसे अँधेरा इस तरह घेर लेता है कि व्यवस्था का तामझाम उसे षड़यंत्र दिखाई देने लगता है। अंधों का यह गीत इसी निरर्थकता और निराशा से जन्म लेता है, जहाँ सब कुछ अंधी गली में फँसा हुआ है। इस निरापद संसार में हर समस्या केवल सेमिनार से हल करने का विश्वास और उसे ही एकमात्र कर्म माननेवाले मध्यवर्गीय चोंचलों से कवि को सख़्त घृणा है। लेकिन मध्यवर्गीय सांस्कृतिक चूहा तो दिवास्वप्नों का आदी है और तमाम विपरीत स्थितियों में बचने का विकास ढूँढ़ लेने को बेचैन है। डर, संकोच और आदत की तरह विकसित सभ्यता में मृत्यु को निश्चित-निर्विकल्प मानते हुए भी किसी कील, तीली, सींक या छड़ी की तलाश में है, जिसे दाँतों में दबाकर वह सुरक्षित रूप से इस लोकतंत्र के पिंजरे में रखे रोटी के टुकड़े को बाहर ठेलकर ले जा सकता है या जंगल में जाकर आज़ादी ढूँढ़ लेता, जहाँ किसी तरह का कोई भय न होता। यही पिंजरा भारत भूषण अग्रवाल की कविता में कहीं मकड़ी का जाला, सर्कस, जुलूस का रूपक बन जाता है। रूपक के बिना इन तमाम तरह के अन्तर्विरोधों को साधा भी नहीं जा सकता। यह केवल परिदृश्य : 1967 का ही सत्य नहीं है। नेहरू के आदर्शों से मोहभंग का यह सामान्य स्वर है, जो देश और व्यक्ति को एक तय किए गये नक़्शे के मुताबिक नहीं चलने देता। ज़िन्दगी और समझ के खींच-खींचकर बैठाया गया रिश्ता साइकिल के पीछे बंधे आटे के कनस्तर की तरह बिखर जाता है और चालक को तय करना मुश्किल हो जाता है कि पहले वह साइकिल संभाले या आटा ? भारत भूषण अग्रवाल अपनी कविता में अक्सर इसी तरह के विचित्र विसंगतिपूर्ण रूपकों को चुनते हैं तो उसकी

ख़ास वजह यही है कि उनके बिना वे मध्यवर्गीय जीवन के वैचित्र्य को व्यक्त ही नहीं कर सकते। इन रूपकों से कविता में विसंगतिपूर्ण वैदग्ध्य के साथ जो अर्थ-बहुलता उभरती है, उसकी व्याप्ति विस्तृत होती है। व्यंग्य में तो इस शैली का अद्भुत प्रयोग भारत जी ने किया है। उनकी काव्याभिव्यक्ति के इस वैशिष्ट्य को न केवल मुक्तिबोध, बल्कि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, श्रीकांत वर्मा तथा अशोक वाजपेयी तक ने स्वीकार किया। मुक्तिबोध तो इसे द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर मध्यवर्गीय भावना के विकास की दृष्टि से उसका ऐतिहासिक मूल्य तक कहने में नहीं हिचके।

अन्य वर्गों की अपेक्षा मध्यवर्गीय व्यक्ति की मानसिकता जटिल अन्तर्विरोधों से ग्रस्त होती है, इसलिए व्यक्तित्व का विभाजन उसमें साफ़ दिखाई देता है। व्यर्थता, असन्तोष एवं अधूरापन उसका स्थायी भाव होता है।

हम 'कल्चर' के हामी थे
लेकिन कपडे दामी थे
बेचा मन, फिर भी तन ढाँक न पाये।

(*बहुत बाक़ी है,* पृ. 10)

की नियति उसका पीछा नहीं छोड़ती। अनिर्णय और संशय का द्वन्द्व उसके स्वभाव का स्थायी हिस्सा है। अर्थरहित जीवन में वह ज़िन्दगी भर किसी मशीन की एवज़ी ही करता रहता है। अच्छाई बस इतनी ही है कि उसे न केवल अपनी इस मजबूरी और बेचारगी का पूरा अहसास होता है, बल्कि इससे भी आगे बढ़कर आत्मविश्लेषण द्वारा कभी वह इन स्थितियों से पलायन का रास्ता निकालता है, कभी प्रवंचना और भ्रम का और कभी उनसे जूझने का, उन पर विजय पाने का। अधूरेपन से जन्म लेकर उसका मर्म पहचाननेवाला यह अनागत विदेह ही कवि के सपनों का भविष्य है, जो शायद उसके व्यक्तित्व को इस द्वैत से मुक्त कर सके ? इस प्रक्रिया में कृत्रिमता की यातना और तरह-तरह के रूप भरने की यन्त्रणा से मुक्ति नहीं और यह उसका कोई ध्येयपूर्ण संकल्प नहीं, किनारे की रेती पर तड़पते-टीसते-जेल के सींखचों में बन्द व्यक्ति की व्यथा है। भारत भूषण अग्रवाल की कविता में बन्धन और मुक्ति की यह जुगलबन्दी लगातार चलती रहती है।

यह अनायास नहीं कि मुक्तिबोध की तरह भारत भूषण अग्रवाल की काव्य चेतना में निरन्तर एक रहस्यमय व्यक्ति पूरे वक्त पीछा करता रहता है, झिंझोड़ता है, दरवाज़े की साँकल खटकाकर सचेत करता है। ज़िन्दगी के अँधेरे कमरों में चक्कर लगाता, तिलस्मी खोह में गिरफ़्तार यह कोई एक महसूस होने के बावजूद दिखाई नहीं देता। कभी दिखाई भी दे तो जाना नहीं जाता। मुक्तिबोध तो इस व्यक्ति को अब तक न पाई गयी अभिव्यक्ति, निज सम्भावनाओं, निहित प्रभावों प्रतिभाओं की पूर्ण अवस्था, हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव एवं आत्मा की प्रतिमा कहकर उससे

पीछा छुड़ा लेते हैं, लेकिन भारत भूषण अग्रवाल को यह नहीं छोड़ता। इसीलिए मुक्तिबोध के यहाँ यह गम्भीर रूप से ट्रैज़िक और क्रान्ति का मार्गदर्शक है। जबकि भारत भूषण अग्रवाल के यहाँ ट्रैजिक-कॉमिक एक साथ है। इन्हीं स्थितियों में यह भारत जी की काव्य चेतना में तीखे व्यंग्य का रूप ले लेता है। भारत जी को भी जीवन भर जिस मुक्ति ? नहीं अभिव्यक्ति की तलाश रही—वह आत्मविश्लेषण और व्यंग्य में मिली। दीवार से सर मारने के अचरज को समझने में ही एक जन्म गुज़ार देनेवाले व्यक्ति को अचानक लगे कि यह एक रस्मअदाई है, सर्कस के खिलाड़ी का पैंतरा है, तमाशबीनों की तालियाँ पाने का एक मामूली करतब है तो आप क्या कहेंगे ? यही भारत भूषण अग्रवाल की मध्यवर्गीय बहुलार्थकता का वैशिष्ट्य है, जो हमारे सामने एक नयी और अनन्त दुनिया को खोलता है, बजाय किसी एक दरवाज़े तक छोड़ आने के।

भारत भूषण अग्रवाल की कविता में अक्सर एक दीखनेवाली देह में दो अनिवार्य रूप से उपस्थित होकर हलचल मचाये रहते हैं और बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के एक साथ कई तरह की भूमिकाएँ, कई स्तरों पर कुशलतापूर्वक निभाते रहते हैं। एक-दूसरे की आँखों में अकेले दिखते माहौल में हर कोई अयाचित-अवांछित जगहों से निकलकर मनचाही दुनिया में आवागमन करता रहता है। 'मैं और मेरा पिट्ठू' का यह साहचर्य एक अद्भुत लोक की सृष्टि करता है, जो एक विभक्त मध्यवर्गीय यथार्थ है। यहाँ जब एक 'मैं' दफ़्तर में साहब की घण्टी पर उठता-बैठता रहता है, तब पिट्ठू नदी किनारे वंशी बजाता रहता है। एक क्लर्क की देह में घुसा हुआ यह जीनियस पिट्ठू इसी तरह के अनेक हैरतअंगेज़ कारनामों को अंजाम देता रहता है। क्लर्क को पच्चीस वर्षों की क़ैद के बाद पता चलता है कि उसके कर्म व्यस्त जीवन का प्रतिपल उसने नहीं किसी और ने जिया है। देहहीन जीवन की यह कल्पना दर्शन की, अध्यात्म की दुनिया से निकलकर जो जादुई अर्थ ग्रहण कर लेती है, उससे व्यक्तित्व के विभाजन के आश्चर्यपरक यथार्थ को समझा जा सकता है। सिर, हाथ आँख और मुँह के बिना ही विदेह घर पहुँचा क्लर्क धीरे-धीरे जान पाता है कि—

भूल से सिर छोड़ आया हूँ दफ़्तर में
हाथ बस में ही टँगे रह गये
आँखें ज़रूर फ़ाइलों में उलझ गयीं
मुँह टेलीफ़ोन से ही चिपटा-सटा होगा
और पैर हो-न-हो क्यू में रह गये हैं।

(*अनुपस्थित लोग*, पृ. 78)

महानगरीय जीवन की व्यस्ततम दिनचर्या का यह औसत मध्यवर्गीय अनुभव

है। पुरुषार्थ चतुष्ट्य की साधना में प्राप्त दुर्गति में ऐसा व्यक्ति न घर का रहता है, न घाट का। बड़े-बड़े आदर्शों की बात करनेवाले का यह दुःखांत दुर्घटना के अलावा और क्या है ? जिसमें सब कुछ बेतुका और बेमानी हो गया है। क्या यह सिंपल सेज़ोफ्रेनिया है कि

मैं और इतिहास दो हैं
नहीं, बल्कि मैं दो हूँ
एक मैं जो हूँ और एक मैं जो हो चुका हूँ।

(*उतना वह सूरज है*, पृ. 108)

मन के भीतर से बाहर की दुनिया तक यह द्वैत विद्यमान है।

जहाँ नीचे एक गरजता समुद्र है
और भीतर एक कशमकश।

इस 'चीरफाड़' में कवि जैसे अपनी और आसपास के परिवेश की बारीक जाँच-पड़ताल में संलग्न है। कस्तूरी की तलाश में कुण्डल की चीरफाड़ से जब वह नहीं मिलती तो उसके ग़ायब होने की सम्भावनाएँ अनन्त हैं। मिथकीय धारणाओं पर अन्धविश्वास करनेवाले कवि का उस परम्परा से सम्बन्धों का भी पुनर्निर्धारण है यह। प्राचीन दिव्यता के बीच का खोखला हाहाकार कि–

कहीं ऐसा तो नहीं है
कि मैं कस्तूरी मृग ही नहीं हूँ
और मेरी भटकन और चीरफाड़
मात्र मेरा दम्भ है।

लेकिन इस चीरफाड़ से छुटकारा इतना सरल काम तो नहीं है। इन रूपकों और चमत्कारों के बीच तरह-तरह के दुःस्वप्न उसे घेरते हैं। कभी अचानक दर्पण के सामने खड़े होते ही वह चतुर्भुज हो जाता है और जिसके–

एक हाथ में बच्ची की गुड़िया है
दूसरे में बाढ़ पीड़ित के लिए दान-पात्र
एक में क़लम जिसकी स्याही सूख गयी है
और चौथे में डमरू अपने भाई की ख़ाल का।

ये चारों प्रतीक वस्तुस्थिति का जो विसंगतिपूर्ण ख़ाका खींचते हैं, वह बेहद दारुण वास्तविकता है। रूपकों की नगरी में क़ैद व्यक्ति को अपना सच्चा मन देखने की फ़ुरसत कहाँ है ? जिसे इससे निजात भी नहीं मिलनी। बहुरूपिया बने रहना ही उसकी नियति है ओर सुविधा की दृष्टि से प्यार को फूल, रोटी को ख़ुशामद और क्रान्ति को रेस्तराँ बनाते-बनाते कविता के बाँस से ज़िन्दगी की कटी पतंग को फाँसने का निरर्थक प्रयत्न करते हुए, मिट्टी में खेलते लड़कों के झुण्ड में इसकी चिन्दियाँ

उड़ते देखना ही उसका परिणाम है। इस आत्मसंघर्ष की निरर्थकता किसी किताबी परिणाम से ज़्यादा रचनात्मक तथा विश्वसनीय है। बने-बनाये निष्कर्षों तक पहुँचने के आदी लोगों को यह प्रक्रिया न जँचे तो उनका दोष नहीं। ऐसे लोग कविता की बजाय सिद्धान्त लिखते हैं।

विभाजित व्यक्तित्व की जटिलताओं से जूझता रचनाकार प्रायः नकारात्मक प्रवृत्तियों—हताशा-कुण्ठा-हीनता के हावी होते ही अधूरेपन की असफलता के गर्त में गिरकर नष्ट होने के कगार पर पहुँच जाता है और सकारात्मक दृष्टि की वजह से संघर्ष की सही दिशा में बढ़कर हालात को बदलने की बात करता है। व्यंग्य इसी बदलाव का पैना अस्त्र है, जो थोड़ी-सी लापरवाही और हल्केपन से लेने पर आत्मघाती भी हो सकता है। भारत भूषण अग्रवाल की काव्य चेतना में प्रारम्भ में यह व्यंग्य विश्व की राजनीतिक परिस्थितियों से उद्‌भूत हुआ। देश की स्वाधीनता के शत्रुओं—चर्चिल और हिटलर पर कवि ने व्यंग्य बाण चलाये। कबीर का यह पैना अस्त्र हाथ में आते ही भारत भूषण अग्रवाल ने चौतरफ़ा इसका अचूक इस्तेमाल शुरू कर दिया। हाथरस प्रवास में तुक्तकों का प्रारम्भ कवि की सिद्धि एवं प्रसिद्धि का कारण बना। हिन्दी कविता में इस विधा के प्रवर्तन का श्रेय भारत जी को ही जाता है। कागज़ के इन फूलों तथा अनेक तरह के अन्य प्रयोगों में कुछ व्यक्तियों पर किये गये तीखे प्रहारों से सम्बन्धों में कटुता भी आयी। इससे लोगों को लगा कि कहीं यह व्यंग्य कवि की हीन भावना, अपनी कुण्ठित मनोग्रंथियों को खोलने तथा औरों की सफलताओं के बहाने अपनी विफलताओं का बदला चुकाने का प्रयास तो नहीं है ? परन्तु भारत जी ने इसे विशुद्ध एवं निखूँत (ठेठ) व्यंग्य की संज्ञा दी। इस सफ़ाई के बावजूद उन्हें यह स्वीकार करना ही पड़ा कि कभी-कभार अन्तरंग गोष्ठी में रंग जमाने के लिए या फिर किसी तुक्तक शिकार को चिढ़ाने के लिए इनका 'प्राइवेट सरक्युलेसन, होता रहा और कतिपय शेष प्रसंगों से उन्हें व्यक्तिवादी 'लिमरिकों' से किनाराक़शी करनी पड़ी। ऐसी खुली आरोपात्मक रचनाओं को आत्मविश्लेषण के तौर पर न लेने का आदी हिन्दी समाज का औपचारिक माहौल ही इस दमन का कारण था। कबीर की खरी-खरी कटुता में घर फूँकने की ग़ैर दुनियादारी भी थी, जो उन्हें बाज़ार में हाथ में लुकाठी लेकर खड़ा होने का नैतिक बल देती थी। शायद भारत भूषण अग्रवाल मठों, गढ़ों और महन्तों-मुल्लाओं को खुली चुनौती देने का साहस नहीं कर पाते थे। इसीलिए उनके दमित कन्फ़ेशन में कहीं-कहीं गहरे अपराध-बोध और पश्चात्ताप का भाव अनुस्यूत है। विभाजित व्यक्तित्व के इस आत्मसंघर्ष में व्यंग्य के प्रयोग से भारत जी की कविता में एक ख़ास चमक उत्पन्न हो जाती है, जिस पर उन्हें विशेष रूप से गर्व है। मध्यवर्गीय मन की क्षुद्रता, स्वार्थपरता और अदूरदर्शिता पर निर्मम व्यंग्य को वे अपनी ईमानदारी

के अन्तिम प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते है। निरर्थकता बोध से उत्पन्न हताशा में आस-पास के परिवेश की विसंगतियों पर व्यंग्य ही कवि को बदलाव का एकमात्र अस्त्र नज़र आता है। कम्युनिज़्म के पैने अस्त्र का व्यंग्य में रूपान्तरण कवि की मध्यवर्गीय चेतना के रूपान्तरण से गहरे में जुड़ा हुआ है। इसीलिए भारत जी इस व्यंग्य को राजनीति की भाँति बाह्य रूप तक सीमित न मानकर आत्मव्यंग्य मानते थे, जिसके गम्भीर निहितार्थ थे और हैं। यह आत्मव्यंग्य महज नुक्ताचीनी के लिए न होकर प्रौढ़ और परिपक्व प्रतिक्रिया के रूप में था। अतः हास्य-विनोद के व्यक्तिगत छीटों में उनकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण क्षमता का, सटीक शब्द चयन का लोहा मानना पड़ता है। अतः यह व्यंग्य परदेसी परायेपन से ग्रस्त किसी कुण्ठित कवि के प्रहार की बजाय आधुनिकता और अबोध जनगण के बीच की खाई को पाटने में संलग्न आत्मीय स्वजन का है, जिसका बुरा नहीं माना जा सकता। तमाम अग्रज और समकालीन रचनाकारों को लेकर लिखी गयी पैरोडियाँ, शेर, धुतविलम्बिता, शोध की बानगियाँ, फुलझड़ियाँ भारत जी की जीवन्तता और ज़िन्दादिली का प्रमाण हैं, जिनके बिना निरर्थक-निष्कपट हास्य की कल्पना नहीं की जा सकती। श्रीकान्त वर्मा, नामवर सिंह, राजेन्द्र यादव, धर्मवीर भारती, श्रीपतराय आदि तमाम समकालीनों का व्यक्तित्व और कृतित्व तमाम गुणों-अवगुणों के साथ यहाँ उपस्थित है।

जहाँ समस्या की बहस को एकमात्र समाधान और सेमीनार को ही पुरुषार्थ मान लिया गया हो वहाँ अगति पर व्यंग्य करके उस पर गति का चाबुक फटकारना और कृत्रिमता से जूझना बेहद मुश्किल काम था, भले यह सिनिक लगता हो। मसखरे के इस मुखौटे के पीछे की परिहासप्रियता तनावपूर्ण माहौल में सेफ़्टीवाल्व का काम करती थी। एक भावनाप्रधान व्यक्ति का यही संबल हो सकता था। ऐसा ही व्यक्ति ख़ुद को भी कह सकता था—

मैं जिसका पट्ठा हूँ
उस उल्लू को खोज रहा हूँ
डूब मरूँगा जिसमें
उस चुल्लू को खोज रहा हूँ।

कविता में रस की इस हद तक की खोज ही भारत भूषण अग्रवाल की प्रयोगशीलता का कारण रही। इसीलिए उनकी व्यंग्य-शैली के पीछे हर जगह एक ही कारण सक्रिय नहीं था—केवल परनिन्दा या दोषदर्शन ही नहीं था, प्रसन्न निश्छल हास्य भी था, जिसका अपना अलग अर्थ था और बस समझनेवाले जिसे समझ सकते थे और शिकार कुढ़कर उसे भोगते थे। ऐसे अवसरों पर भारत जी की विदग्धता को नज़रअन्दाज नहीं किया जा सकता।

काशी का गवैया, नाम उसका था दुर्गा
कोयल मिली नहीं तो पाला एक मुर्गा
नित्य भोजनोपारान्त
साध स्वर स्निग्ध शांत
कहता पुचकार, 'बेटा मधुर्मर्धुगा।'

जैसे सांकेतिक, शालीन हास्य के साथ—

नामवर सिंह जब आये थे जोधपुर
छात्रों ने सोचा था कि बनेगा वह शोधपुर
किन्तु पड़ा उल्टा दाँव
भडक उठा 'आधा गाँव'
शोधपुर की जगह बना वह विरोधपुर

में ऐतिहासिक प्रसंगों को संक्षिप्त शैली में जिज्ञासापूर्ण तरीक़े से समाहित करने में कवि का कौशल दृष्टिगत होता है। इन रचनाओं के मूल में निहित आलोचनात्मक विवेक इन्हें विशेष अर्थदीप्ति प्रदान करता है। प्रभाकर माचवे की जुगलबन्दी इस विधा को पूरकता देती है। लीअर के 'लिमिरिक' का हिन्दी में यह अवतरण ऐतिहासिक एवं अनुपम है।

इनके अलावा भी भारत जी ने कविता के शिल्प में चामत्कारिक प्रयोग किये। भावानुकूल भाषा के प्रयोग में तो वे सिद्धहस्त थे। शब्द-चयन की उनकी सावधानी और सटीकता देखते ही बनती है। 'कनाट प्लेस' कविता में मात्र—

गाड़ियों की घरघराहट
साड़ियों की सरसराहट
नाड़ियों की हरहराहट

(*अनुपस्थित लोग,* पृ. 26)

तीन पंक्तियों से सारे वातवारण का जीवन्त दृश्य साकार रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है। इसी तरह 'मसिजीवी' की तर्ज़ पर टी.वी. और बीवी की तुक के कौशल से जो अर्थ ध्वनित होता है, वह मसिजीवी के शाब्दिक अभिधार्थ की आधुनिक निरर्थकता को ही प्रकट करता है। शाब्दिक खिलवाड़ तो जैसे हर समय भारत जी में और उनकी कविता में कई तरह से झलक मारती रहती है। कविता में गद्य और कथा यानी गद्य के प्रयोग उन्होंने ही शुरू किये। चोर, आप मेरा क्या कर लेंगे, हर बार यही होता है, टूटन, पतित पावनी, बंगाल का जादू और अधूरी कविताओं में

अकबर के प्रति ऐसी ही कुछ कविताएँ हैं। गद्य का यही काव्यात्मक विन्यास उनकी व्यंग्य-कथाओं तथा नाटकीयता काव्य नाटकों में अभिव्यक्त हुई। इस तरह समग्रता में देखने पर भारत जी की प्रयोगशीलता का गम्भीर अभिप्राय उनके सृजन में अनुस्यूत है। भाषा में अतिरिक्त क्लिष्टता और तनाव के बिना ही साधारण रूप में कविता की प्रस्तुति उन्हें बेहद सम्प्रेषणीय कवि बनाती है। यही विशेषता उन्हें अज्ञेय और मुक्तिबोध के बीच की ख़ाली, किन्तु महत्त्वपूर्ण जगह का अधिकारी बनाती है, अक्सर जिसकी चर्चा नहीं की जाती। बहुत दिनों तक इकहरी आलोचना की इस रूढ़ि के चलते भारत जी ही नहीं रघुवीर सहाय, कुँवर नारायण और साही जैसे कवियों के वैशिष्ट्य को अनदेखा किया जाता रहा और आज भी यह मध्यमार्ग खुलने की प्रतीक्षा में है। भारत जी ने अक्सर मूल्याकंन की इस रूढ़ि का खुलकर विरोध किया, जिसके दुष्परिणाम उन्हें अपनी उपेक्षा के रूप में झेलने पड़े।

इस सहज एवं प्रसन्न हास्य-विनोद से अलग राजनीति पर व्यंग्य की प्रखरता से भारत जी की वैचारिक सजगता एवं जागरूक नागरिकता का पता चलता है। इस व्यंग्य में आज़ादी से पूर्व की राजनीतिक अपेक्षाओं व आदर्शों से मोहभंग निहित है। अख़बारी दुनिया तक सिमटी मध्यवर्गीय ज़िन्दगी का सारा गणित सूचनाओं भर से चलता है। रोज़ सवेरे एक आश्चर्यलोक खोल देनेवाले अख़बार में दुर्घटनाओं, संसद की बहसों, प्रदर्शनों, फ़िल्मों से कवि सन्तुष्ट नहीं है, वह उस रास्ते पर ख़ुद निकल पड़ना चाहता है, जिस पर घटनाएँ मिलती हैं। लोकतन्त्र की भीड़ में उसे व्यर्थता का भाव बेचैन करता रहता है। पश्चिमोन्मुखी औद्योगिक पूँजीवाद ने देश को निरन्तर खोखला किया। गाँधी जी का ग्राम स्वराज का मॉडल निरन्तर अप्रासंगिक बनाया गया। गाँधी के प्रति कवि की आस्था और उनके वैचारिक कार्यक्रम के प्रति निष्ठा जैसे कवि की अपनी मानसिकता में भी परिवर्तन का संकेत है।

राजनीतिक मोहभंग के चलते मध्यवर्ग में व्यवस्था के प्रति अनास्था तथा घृणा पैदा हुई। पैसा, अवकाश और नमकहरामी में घृणा का नकारात्मक डोज़ उसकी एक अनिवार्यता बन गयी, जिससे वह निरन्तर आत्मकेन्द्रित होता गया—स्वार्थ साधन के आगे देश और समाज का कोई महत्त्व नहीं रहा। इसी अवसरवाद से भ्रष्टाचार पनपा और आज पूरा समाज इससे त्रस्त है। विकल्पहीनता की इस स्थिति में तप, साधना और सत्य की बात करना हास्यास्पद व्यापार बन चुका है। उपभोक्ता और उपयोगिता के दौर का यह अहसास भारत जी को पहले से था, इसलिए वे कविता से क्रान्ति का काम लेने का भ्रम नहीं पालना चाहते थे। उन्हें महान कवि परम्परा की बजाय आधुनिक युग के कवि का व्यक्तित्व विलायती स्पंज के समान लगता था, जो रिक्त प्राण, छिद्रमय, रसहीन है। वह तो बाहर के जीवन को सोखकर बस उगल देता है,

सो भी तब जब उसे कोई आकर निचोड़े। आत्मदान, अहम् के अवसान जैसी भारी-भरकम शब्दावली की बजाय वह तो अपनी बनावट से मजबूर मशीनी युग का एक छोटा यन्त्र मात्र है। इसी विनम्रता के चलते भारत जी अपनी सहजता बचाये रख सके। उन्होंने लोकतन्त्र के प्रहसन के लिए 'नाग, बीन और मदारी' का जो रूपक चुना है, वह आज भी बेहद प्रासंगिक है। विष के दाँत खो चुका नाग, पराई पीठ पर चलकर खोखली फुफकार से किसे डरा सकता है। इस तमाशे में सभी कुछ पराये इशारे पर संचालित है। बीन के स्वर भी कहाँ अपने हैं, उसमें पराई फूँक है, इसीलिए वह अपने स्वरों की सफलता पर दुःखी होने की चरम विषमता को भोगती है। तब यह सब क्या है ?...

शक्ति जिसकी व्यर्थ है : वह नाग
राग जिसका व्यर्थ है : वह बीन
दोनों उपकरण हैं व्यर्थता के उस तमाशे के
जो मदारी के लिए आजीविका है,
लाभ है।

(*बहुत बाक़ी है,* पृ. 104)

यह भारतीय जनतन्त्र का नया पंचतन्त्र है। जीवन का यह बिखराव, एक दुनिया का मिटना और दूसरी का न बन पाना, अगति और असफलता के बीच का यह अनुभव ही वह यातना है, जिसे भारत भूषण अग्रवाल ने स्वर दिया। यहाँ शीर्षासन का मज़ा और 'नाग यज्ञ' की प्रतीक्षा करते लोग जिस परिदृश्य के हिस्से हैं, वहाँ आश्वस्तिकारी कुछ भी नहीं है। महानगरों से लेकर धुर गाँव-देहात तक यह सिलसिला बदल ही जाता है। सैंतालीस में शरणार्थी दलों से लेकर पचहत्तर में तुलमोहन राम तक की यह यात्रा कवि का साक्ष्य है और उसकी प्रतिध्वनियों की अनुगूँजों तक यह जारी है। सभ्यता का यह कबाड़ी इण्डिया पुराने और नये दोनों तरह के नक़्शों में उसके चित्रों को सुरक्षित रखे हुए है। ऐसे विपरीत माहौल में वीणा बजाकर मोहन और सम्मोहन को पैदा करना और बनाये रखना कवि का काम नहीं है।

अब तो यह सारा खेल एक विश्वव्यापी प्रपंच में फँस चुका है। अन्धों के इस गीत में भाषा, तुक, विद्रोह सब कुछ निरर्थक हो चुका है। हर रोज़ यहाँ ऐसा कुछ होता है कि कविता के बस का कुछ नहीं है। कवि भी कविता लिखने बैठता है कि चील-बिलौए बन जाते हैं। झण्डे, आदर्श, सपने, नारे, जुलूस की दुनिया एकदम बेमानी हो गयी है। अब सब कुछ काले-गोरे तक सीमित नहीं है। बाज़ारवाद ने चीज़ों का पारम्परिक अर्थ बदल दिया है—असली विद्रोही की बदलती भूमिका में ख़ुशामद और विरोध सब बिकाऊ है—

अगर तुम मुझे पाँच सौ रुपये दो
तो मैं अपनी कविता में 'फ़ैमिली प्लानिंग' डाल दूँगा
और अगर भारतीय संस्कृति डलवानी है
तो कम-से-कम तीन हज़ार।

लेकिन अगर तुम यह मौक़ा चूक गये
और तुमने मेरी उपेक्षा कर दी
तो मैं तुम्हारे सिंहासन के परखचे उड़ा दूँगा
क्योंकि असल में तो मैं विद्राही हूँ।

(*उतना वह सूरज है;* पृ. 69)

यही वह भूमंडलीकृत परिदृश्य है, जो हमारे ठीक सामने है और इसी में हमारी तमाम समस्याओं का समाधान है—मसलन भाषा—

जिसे हम भूल से विदेशी कहते थे
वही हमारी अपनी भाषा है।

(यथोपरि, पृ. 57)

व्यंग्य का स्थायी यथार्थ में बदलना जिस यथास्थिति को ताक़त देता है, वह एक विकल्पहीन रेगिस्तान में भी ले जाकर छोड़ने की ख़तरनाक सम्भावना रखती है। भारत भूषण अग्रवाल इससे अनभिज्ञ नहीं थे, लेकिन रास्ता तो इसी दलदल से निकलेगा। अन्धेरे बन्द कमरों में गुम होते जनतन्त्र की राह की तलाश उनकी कविता में थी और है, इससे इनकार करना मुश्किल है। इसीलिए आज भी उस कविता से हमारा संवाद होता है। *कितना कम पाया मैंने जीवन में अपना कितना खोकर*—का हिसाब-किताब रखनेवाले कवि की पाने के बजाय खोने की यह आस्था ही उसे ठगे जाने पर भी सुखी होने की परम्परा से जोड़ती है। आख़िर आत्मव्यंग्य नैतिक बल के साथ कठिन होते कवि-कर्म को सम्भव बनाने में भी मदद देता है। आत्मालोचन वैसे भी भारत जी की कविता का स्थायी भाव है।

प्रेमजन्य अनुभूति को भारत भूषण अग्रवाल की काव्य चेतना का मूल स्रोत माननेवाले कतई ग़लती नहीं करते। यह अनुभूति उनकी कविता में एक ही तरह से अभिव्यक्त नहीं हुई है। कैशोर्य के वायवीय प्रेम, बिछोह की पीड़ा, हताशा, कुण्ठा के बाद दाम्पत्य की परिपक्वता, खुलेपन के तमाम रूप उनकी कविता में उपस्थित हैं। प्रेम के लिए प्रतिक्रियायित होने की प्रक्रिया पर ही ध्यान दिया जाए तो यह पुकार कवि-मन की तमाम जटिलताओं-सरलताओं को समझने में कई तरह से सहायक होती है। भारत जी का तो काव्य-व्यक्तित्व ही प्रेम और व्यंग्य में खुलता है। यह आश्चर्य हो सकता है कि उम्र के बढ़ने के साथ-साथ उनकी कविता में

संकोच की बजाय स्वीकार बढ़ता गया। इसी आकर्षण एवं राग के कारण *तारसप्तक* के कवियों में उनकी पहचान अलग है, क्योंकि इस प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने किसी दार्शनिक घटाटोप का सहारा नहीं लिया। यही चेतना गिरिजा कुमार माथुर और धर्मवीर भारती में विकसित हुई।

प्रेम को लिज़लिज़ा, विकृत और अस्वस्थ बना देनेवाले माहौल के बीच परिवार एवं दुनिया के संघर्ष से जुड़े प्रेम की गहरी संवेदनशीलता ही उसे सकारात्मक मानवीय ऊर्जा का दर्जा देती है। सेक्सजनित कुण्ठा की बजाय उसका खुला स्वीकार कविता और कला को गरिमा प्रदान करता है। भारत जी की कविता में ऐसे ही संयमित-सन्तुलित आवेगमय प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। थकान और पराजय के बाद सुप्त धमनियों में स्नेह का संचार करती प्रेम की धारा ही शुष्क हृदय को नये उत्साह से भर देती है। इसलिए इसके बिना जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। प्रेम एक अनिवार्य तत्त्व है। भारत जी की कविता में प्रेम की विफलता से उत्पन्न हताशा का आत्मस्वीकार उन्हें पलायनवादी होने से बचाता है। अक्सर उनकी कविता में अतीत के गहन आकर्षण और उसके बीत जाने की स्थितियों का यथार्थ जिस सहजता से स्वीकृत होता है, वही उसकी परिपक्वता एवं आधुनिक बौद्धिक समझ का प्रतिफलन है। ये स्थितियाँ कहीं दाम्पत्य के अन्तर्गत हैं, कहीं दाम्पत्येतर। इसलिए यह प्रेम सामाजिक मर्यादा तथा रूढ़िवादिता से अलग है। यही इसकी अनिवार्यता है, जो इसे लक्ष्मण रेखा से निकालकर सहज मानवीय ललक और जिजीविषा का रूप देती है।

एक मैं जो हूँ और एक मैं जो हो चुका हूँ
और दोनों के बीच एक बिजली का तार खिंचा है
और वह तार तुम हो।

(*उतना वह सूरज है*, पृ. 108)

यह तार ही कवि को दो काल-खण्डों के बीच अस्तित्व की पहचान कराने का एक सूत्र है। यही वह बिन्दु है, जिससे राग-विराग की धुँधली रेखा पहचान में आती है। नभ से भी बढ़कर प्रबल प्यार का यह आह्वान छायावादोत्तर कविता के केन्द्रीय भाव एवं रूप में मौजूद था, जहाँ प्रेम की विफलता उसकी सफलता से अधिक आकर्षक तथा महत्त्वपूर्ण थी। इस विफलता का गायन ही कविता की ज़रूरी शर्त थी। नयी कविता में इस विफल निराशा का स्थान प्रेम की सफलता एवं सार्थकता के स्वीकार के रूप में सामने आया। इसीलिए यहाँ प्रेम को रहस्य एवं प्रतीकों से मुक्ति मिली। यह प्रेम कालिदास के मेघ के सन्देश वहन का आकांक्षी न होकर शाप-सत्ता के लिए चुनौती है, इसीलिए जन्मना अभिशप्त नहीं है। अब यह ख़ाला का घर है, जहाँ अस्तित्व के विलीनीकरण की अद्वैत सम्भावना नदारद

है। परिधि और केन्द्र की तरह सायुज्य स्थिति ही यहाँ स्वीकार है। कवि उद्‌घोष करता है कि—

यह नहीं होगा कि मेरा प्यार मुरझा जाए
यह नहीं होगा कि मेरा व्यक्ति ही खो जाए
और यह भी तो नहीं हो पायेगा सम्भव
परिधि सिमटे औ सिमटकर केन्द्र में सो जाए।

(*बहुत बाक़ी है*, पृ. 76)

निश्चित ही यह प्रेम की ऐसी स्थिति है, जिसकी कल्पना पहले सम्भव नहीं थी। विछोह के दर्द के फूलों-बीजों का विकास भी कवि कल्पना में एक नया रूपाकार ग्रहण कर लेता है। वह उस शेष कुछ को भी पाना चाहता है, जो प्रेम के दिव्य क्षण को अमर बना सके। इस प्रेम की एक और विशेषता यह है कि यहाँ प्रायः इकतरफ़ा स्वीकृति न होकर संवादात्मकता एवं सहयोग की समानता विद्यमान है। अब प्रेमिका भी अतीत की याद दिलाने पर लज्जा से लाल हो उठने, अपराधिनी की भाँति नज़र झुका लेने, मूक रह जाने या एक युग पहले के अभ्यास की भाँति बहाना करके ग़ायब हो जाने की बजाय खुलकर प्रेम के अवदान और अनुभव का साझा करती है। इस तरह वह अनजाने ही युगव्यापी काल्पनिक-रोमानी दर्द को झूठा कर देती है। देने के भाव से अकिंचनता का अहसास और प्रिय का स्मरण प्राण में जब पुलक के सौ-सौ सवेरे जगाता हो, तब कवि कैसे ओठों के गुलाब को तोड़ देने की बात सोच सकता है—

तुम जगो आदिम उषा-सी
प्राण-तट पर
रूप दर्शन
रस बने सूखी जड़ों में

का माहात्म्य जयदेव, चण्डीदास और घनानन्द की काव्यानुभूति से आगे का है, क्योंकि उनकी प्रेमिकाओं को तो यह भी पता न था कि वे काव्य रचते थे, जबकि यहाँ तो प्रेमिका ने न केवल अपने प्रेमी की कविताएँ पढ़ी हैं, बल्कि उनमें पिंगल की भूलें भी निकाली हैं।

प्रेम वह अपरिभाषित भाव है, जिसे सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक और आगे भी किसी समीकरण से बता पाना कम-से-कम कवियों-प्रेमियों के लिए सम्भव नहीं हो पायेगा। यह सहज मानवीय इच्छा करने और किये जाने की माँग प्रकृति प्रदत्त है। तमाम विसंगतियों, हत्या, नृशंसताओं, क्रूरताओं, संकटों के बीच प्रेम ही है, जो जिजीविषा को मरने नहीं देता। उसके लिए किसी मुहर और प्रमाण की ज़रूरत नहीं होती—प्रेस में उसके निमन्त्रण पत्र छपने की बात भी बेमानी है—हवा में टँगा हुआ

यह इकतारा किसी के बजाये बिना ही हवा से बजता रहता हो तो उसे बजाने का श्रेय लेना फिजूल है। प्रेम इसीलिए हर बन्धन को अस्वीकार करता है—मुहर की बजाय मन इसके लिए ज़्यादा ज़रूरी है। वह मन में बसा एक सपना है, जो

अगर किसी का नाम है तो भी मीठा है,
और अगर नाम नहीं है तो भी
क्या-सपने को तराजू पर चढ़ाना
ही कौन चाहता है ?

(*उतना वह सूरज है,* पृ. 80)

प्रेमी को तो उस फूँक की इन्तज़ारी है, जब जिस्म का हर पोर बाँसुरी बन जाए।

भारत भूषण अग्रवाल की इन बाद की प्रेम कविताओं में देने की विकलता, लौ के बुझने से पहले की तीव्रता एवं आवेग उन्हें एक अतिरिक्त दीप्ति से भर देता है। प्यार की स्थितियों के इतने रूप और आयाम उनकी कविता में अनुस्यूत हैं कि आश्चर्य होता है। लगता है कवि प्रेम को पूरी शिद्दत के साथ जी लेना चाहता है—उसके लिए—

प्यार वह फूल नहीं
जो अपने आप उगा
मुस्कराया
और झर गया

(*उतना वह सूरज है,* पृ. 93)

बल्कि प्यार तो वह घाव है, जो गड्ढे में गिरने से मिला है। डॉक्टर जिसे भरने की फ़ीस चार्ज करता है। इस तड़प में मन की प्यार की चाह ख़त्म नहीं होती। प्यार की यह ललक उम्र के पन्नों पर ऐसे ही सजी रहती है, जैसे बच्चे अपनी पोथी में चमकीली पन्नी, साँप के केंचुल और फूल की पंखुरियाँ रखते हैं। भाव, शब्द और निर्जीव लेखनी प्रेमिका के तन पर रचे गीत का विकल्प नहीं हो सकती। तभी तो यह भाव शाश्वत और शब्दातीत है—

प्यार एक फूल है
फूल तो प्यार है
हम-तुम तो बस उसकी दो पंखुरियाँ हैं
हमें गूँथे हुए है जो गन्ध
वह हमारी नहीं
उसकी है।

वह रहेगी।
जब हम झर जाएँगे

(वही, पृ. 102)

भारत जी ने ऐसे प्यार से मुलाक़ात की ढेरों योजनाएँ बनायी हैं, लेकिन जैसे कविता की योजना नहीं हो सकती, उसी तरह प्यार योजना से परे का काम है। पंचवर्षीय योजना के अनुसार 'पहले वर्ष-दर्शन, दूसरे वर्ष संलाप, तीसरे वर्ष मैत्री, चौथे वर्ष प्रस्ताव और पाँचवे वर्ष मिलन के विचार में व्यतिक्रम अयोग्यता-अपात्रता बनकर रह जाता है।' प्रेम और पातिव्रत को लेकर भी कवि नयी धारणाएँ रखता है और वसीयत में अपना दिल प्रेमिका को दे जाना चाहता है, ताकि वह प्रेम करके भी पतिव्रता बनी रहे।

निश्चित ही भारत जी की प्रेम की धारणा की अभिव्यक्ति नयी भाषा, बिम्ब और प्रतीकों की अपेक्षा रखती है और कवि में उन्हें चुनने की क्षमता है। यादों के ऊन से कार्डिगन बुन लेना या प्यार को चाँदनी नहाई झील में तिरती नाव पर मस्ती में डुएट गाते प्रेमियों की बजाय ट्रैफ़िक की भीड़ में भागते स्कूटर की सवारी करना, महानगर की व्यस्त दिनचर्या के क्षणों में उसे पकड़ना है, जहाँ दम साधे पीछे बैठी रहकर पत्नी बिना एक्सीडेण्ट के घर पहुँच जाए, यही बड़ी बात है। सौन्दर्य के नवीन उपमानों की तो कवि ने जैसे झड़ी लगा दी है। आँखों में जगमगाते नक्षत्र, ओठों पर हिलते मुस्कराहट के फूल, जूड़े में बसी मोगरे की कलियाँ, रोमों में किलकता उन्माद का निर्झर, बाँहों में कसी फूलों की घाटी, आँचल में लिपटा इन्द्रधनुष, चरणों से फूटती-नाचती लहरें और तन पर झिलमिलाती वेगवती झील (पृ. 96) का नाम परिगणन कुछ तो नयापन रखता ही है या

बिजली-सा गोरा तन
चाहा तो बहुत
पर छुआ नहीं डर से
कहीं कोई करेण्ट न मार दे।

(पृ. 25)

की निरी प्रयोगशीलता क्या केवल चमत्कार के लिए है, अन्यथा तो बाजरे की कलगीनुमा ये प्रयोग चल क्यों नहीं पाए? जाहिर है कि भारत जी ने भी ऐसे प्रयोग चौंकाने के लिए किए, जिनमें कथन की भंगिमा तथा वक्रता ही प्रमुख थी। ऐसे प्रयोगों में निहित भाव भी उतना गम्भीर और गहरा नहीं है, जैसा 'अद्वितीया' कविता में व्यक्त हुआ है। प्यार में सुधि में, विकलता में निर्माल्य की थाली और जूठन दोनों का विभाजन एवं फ़र्क़ को केवल मन का अटकाव, माया का आवरण कहकर झुठलाया नहीं जा सकता। इसी द्वन्द्व के बीच प्रेम, परम्परा और आधुनिकता के

दोराहे पर खड़ा है, जिसे भारत जी ने अपनी कविता में स्वर दिया है। इसलिए उन्हें प्रेम और प्रेम के नाटक को अलग करना ज़रूरी लगता है और वे बता देना चाहते हैं कि जिस तरह प्रेम हमें बड़ा करता है, उदात्त बनाता है, उसी तरह प्रेम के नाटक से नहीं होता, वह हमें छोटा बनाता है, पतन के गर्त में ले जाता है। *रामचरितमानस* की नींव में तुलसी के इसी जीवट को भारत जी ने पहचान लिया कि उन्होंने—

तन की सुविधा के लिए
मन से समझौता नहीं किया
और प्यार के मर जाने पर
गृहस्थी की लाश ढोने से इन्कार कर दिया।

(*उतना वह सूरज है*, पृ. 50)

प्रेम की तरह कविता के प्रति भी भारत भूषण अग्रवाल में ऐसी ही उत्कट निष्ठा थी। तभी वे कहने का साहस कर सके—

बसन्त-वृन्त पर झूलते लजीले फूल।
तेरी मुस्कान के पराग से
भर लूँ अपना दुकूल—
जब जहाँ बरसूँ
वहीं तेरी रंग-रश्मि से
जीवन की धरती पर इन्द्रधनु तन जाए।
मेरे इस एकांत समर्पण की
और कुछ नहीं तो
समाधि ही बन जाए।

(*उतना वह सूरज है*, पृ. 26)

6

अन्य विधाएँ

कविता भारत भूषण अग्रवाल की पहली और प्रमुख प्राथमिकता ज़रूर थी, अकेली नहीं। उसके अलावा उन्होंने बाल काव्य, नाटक, गद्य काव्य, काव्यानुवाद, कथा साहित्य, नाटक, आलोचना, निबन्ध और संस्मरण जैसी अनेक विधाओं में सृजन किया और कुछ में रचनात्मक प्रतिभा का परिचय देकर उत्कृष्ट कृतियाँ रचीं। इससे पता चलता है कि उनकी सृजनात्मक समग्र प्रतिभा का दायरा कितना व्यापक था।

बाल काव्य

भारत भूषण अग्रवाल ने बाल कविताएँ लिखकर दोयम दर्जे का कोई काम करने का अपराध-बोध नहीं पाला। अलबत्ता यह चिन्ता उनके मन में ज़रूर रही कि वे अधिक और श्रेष्ठ बाल साहित्य की रचना नहीं कर पाए। बाल साहित्य के ख़तरों से वे नावाकिफ़ नहीं थे। उन्हें बराबर बड़ों और बच्चों की मानसिक-बौद्धिक दुनिया की जटिलताओं एवं अन्तर्विरोधों का आभास था। 'वयस्क लोग जितना भी चाहें बच्चों की तरह सोच नहीं सकते।' और बच्चों की छोटी दुनिया वयस्क दुनिया का संक्षेपण नहीं है।' इसी अन्तर्द्वन्द्व को न समझ पाने के कारण न तो लेखन में और न सामाजिक पारिवारिक जीवन में बच्चों और बड़ों के बीच का फ़ासला कम हो पाता है, जिससे अनेक समस्याएँ सामने आती हैं, जिनका समाधान कठिन हो जाता है। अपने अनुभवों को बिना विचारे बच्चों पर थोपनेवाले—हर समय सीख देने को उतावले वयस्क बच्चों की कोमल तथा संवदेनशील मानसिकता को कितना नुक़सान पहुँचाते हैं, नहीं जानते। इसीलिए भारत जी बच्चों पर तोहमत की तरह सीख थोपने के ख़िलाफ़ थे। क्योंकि कहानी से शिक्षा देना हमारी परम्परा है, इसलिए यह आदत हमसे नहीं छूटती। जबकि "एक प्यारी रोचक कहानी के लिए इससे बड़ी दुर्घटना कोई नहीं हो सकती। कहानी के साथ सीख जोड़ने का मतलब है, उसका मज़ा

किरकिरा कर देना।" (*भारत भूषण अग्रवाल रचनावली* : चार पृ. 466)

भारत जी बच्चों के लिए लिखने को आसान काम नहीं मानते और उन्हें छात्र या शिष्य समझने के ख़िलाफ़ है। बच्चों के लेखक से उनकी अपेक्षाएँ बहुत अधिक हैं। बाल साहित्य की कमियों और ख़तरों की गम्भीर चर्चा उन्होंने इसीलिए की है दिखाई देता था। वह उन्हें अपनी आकांक्षाओं के अनुरूप नहीं दीखता। उसमें बच्चों के साथ दोस्ती एवं समानता की भावना बहुत कम है। इसीलिए बच्चों की ज़ुबान पर चढ़ जाने वाली रचनाएँ गिनी-चुनी हैं। बच्चा ऐसे माहौल में 'बहुत महत्त्वपूर्ण व्यक्ति की तरह नहीं, केवल एक संलग्न वस्तु की तरह अपने प्रति व्यवहार होते देखकर थक गया है, जबकि बच्चा फालतू का प्राणी न होकर एक महान व्यक्ति है। लेखक अपना सारा ज्ञान भूलकर उसके पास नम्र भाव से जाकर ही उसका सहयात्री और मार्गदर्शक हो सकता है और उसे रचनाओं के रूप में खिलौने उपलब्ध करा सकता है।

भारत जी की बाल कविताओं में बच्चों के बचपन और आसपास की दुनिया का जो सामान्य परिवेश है, उसमें अच्छी सफ़ाई की आदतों, ग्राम-सुधार और सड़क के नियमों को बड़ी बालसुलभ भाषा में प्रस्तुत किया गया है। इन कविताओं में उपदेश की बजाय सलाह और सुझाव की आत्मीयता भरी हुई है। देशभक्ति तथा देश के प्राकृतिक उपादानों—हिमालय, सरिता, चाँद-सूरज, सुबह की इन कविताओं में प्रस्तुति केवल निर्जीव उपाख्यान न होकर जीवन्त और रोचक है, बल्कि इनमें बहुत कम ऐसी बातें हैं, जो बच्चों में अरुचि जगाएँ। ओस, हवा, हरियाली, कमल, भौंरे, तितली, झरना, सागर, नाव, मेह, मोर, आम, बिजली, इन्द्रधनुष, फल, जंगल, फूल, मदारी, रेल, हवाई जहाज़, चूहा, कबूतर, बिल्ली, कौवा, कोयल और परछाईं का यह स्थायी रहस्यलोक अब सुपरमैन, डिज़्नी, कार्टून फ़िल्मों और क्रिकेट ने भले हथिया लिया हो, पूरी तरह अप्रासंगिक नहीं हुआ है। मास्टर साहब की पिटाई से बचने को आतुर बुद्धू दादा का लोक अब बिला गया है। उसकी जगह अब नये—आधुनिक एवं तकनीकी खिलौनों ने ले ली है। वह अबोध और निश्छल संसार भी अब क्रूर हत्याओं-अपराधों से क्यों भर गया है? कम से कम भारत जी की कविताओं से उस फ़र्क़ को तो जाना ही जा सकता है। मदारी भी शायद अब केवल गँवई-गाँव की दुर्लभ पहचान भर है। जाहिर है कि अब बच्चों की दुनिया पहले की अपेक्षा हर मायने में बड़ी हो गयी है और पुरानी दृष्टि से बचपन का भोला भाव अब उनसे छिनता जा रहा है। कारोबारी दृष्टि ने उन्हें अपना शिकार बना लिया है और अंग्रेज़ी की राइम ने हिन्दी की बाल कविताओं के प्रसार को रोक दिया है। ऐसे में वे बीते दौर की बातों की तरह कुछ पुराने लोगों की दिलचस्पी तक सीमित रह गयी हैं। फिर भी बच्चों में इतना उत्साह तो शेष रह ही गया है कि कहें—

कितने सुन्दर और सलोने
देखो मेरे नये खिलौने

और यह वर्णनात्मकता तो केवल गाँवों तक सीमित रह गयी है—

सुन्दर नदी एक बहती थी ग्राम किनारे
देती थी वह उन ग्रामीणों को सुख सारे

कहने की ज़रूरत नहीं कि भारत जी की बाल कविताओं की वह दुनिया प्रदूषित हो चुकी है और अब एक काल्पनिक लोक की उपज लगती है और उसे संरक्षण की ज़रूरत पड़ने लगी है।

काव्य-नाटक

एक रचनाकार अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए केवल किसी एक विधा या माध्यम तक सीमित नहीं रह सकता। अनेक माध्यमों का चयन अक्सर उसकी आन्तरिक मजबूरी होती है, अन्यथा वह अपने भावों और विचारों को व्यक्त ही नहीं कर सकता। यह बात अलग है कि कोई एक माध्यम उसे अधिक प्रिय हो। भारत भूषण अग्रवाल में एक नाटकीय काव्यात्मकता शुरू से ही विद्यमान थी और इसके प्रति रुचि उनमें थी। आकाशवाणी में काम करते हुए उन्होंने 'सेतुबन्धन' में तीन पद्य रूपकों की रचना की जिनका तन्त्र रेडियो के अनुरूप ध्वनि पर आधारित है। राष्ट्रीय और सांस्कृतिक पर्वों से जुड़े होने के कारण भारत के ऐतिहासिक गौरव और अतीत के संयमित और समन्वित सांस्कृतिक सन्देश का इनमें होना स्वाभाविक ही है। इसीलिए भारत जी के प्रिय और आदर्श कवि मैथिलीशरण गुप्त जी को इनकी विचारधारा अपने अनुकूल लगी और डॉ वासुदेव शरण अग्रवाल जैसे मनीषी को इनमें भारतीय संस्कृति के शान्ति, मुक्ति, अभय और समन्वय पर आधारित अमृत सन्देश की व्याख्या और विजयश्री दिखाई दी। इसीलिए भारत के हृदय की प्रतिध्वनि से पूरित इन पद्य रूपकों में देश की संस्कृति के उस महान सेतु को देखा जा सका जो मानवों के बीच में, देशों और जातियों के बीच में, विकसित और अर्धविकसित संस्कृतियों के बीच में बन्धन-सूत्र का काम करता रहा है। इस सेतु बन्धन के बिना विश्व में कोई भी आदान-प्रदान सम्भव नहीं है। इसी कारण पूर्व का यह मिलन तीर्थ विश्व मनुज का मिलन तीर्थ होने की योग्यता रखता है। यहाँ—

जाति-जाति में भेद नहीं है, सब मानव हैं
सब समान हैं।
मूल तत्त्व हैं ममता, करुणा
आदि धर्म है जो जीवन का
पृथ्वी हम सबकी जननी है
बन्धु यहाँ पर है जन-मन का।

(*रचनावली खण्ड—2,* पृ.5)

विश्व में फैलती विषमता, स्वार्थ, युद्ध और हिंसा का समाधान भारतीय संस्कृति के पास है। कवि ने मिलन तीर्थ, शान्ति पथ और सेतुबन्धन रूपकों में वैदिक संस्कृति से लेकर गाँधी तक निहित समन्वय और एकता के तत्त्वों को जिस सरल-सहज भाषा और शैली में समाहित किया है, वह बड़ा ही प्रभावपूर्ण काव्य विन्यास है। राम, कृष्ण, बुद्ध, कबीर, हिन्दू-मुसलमानों के सकारात्मक ऐतिहासिक संकेतों ने भारतीय संस्कृति की एकता के कारणों को महत्त्वपूर्ण शृंखला एवं सूत्रों में बाँध दिया है एवं यह आदर्शवाद केवल भावुकता का प्रलाप न होकर भारत की पूरी परम्परा तथा संस्कृति के क्रम में होने के कारण कवि को यह देश मानवता के मिलन पर्व का केन्द्र लगता है। पश्चिम के साम्राज्यवाद के आतंक और वैश्वीकरण से आतंकित न होते हुए भारत के स्वतन्त्र और स्वाभिमानपूर्ण विकास का मॉडल भी यहाँ है, जिसकी आज देश को बेहद ज़रूरत है।

आज हिंसा कर रही है गगन भेदी नाद
गूँजती है चक्रध्वनि बनकर विषम उन्माद
युद्ध का यह दैत्य भीषण सारथी है अन्ध
स्वार्थ-भय के अश्व लिखते विषम गति के छन्द।

(*रचनावली, खण्ड 2,* पृ. 15)

तब धरती के विमल सुतों की गौरव गाथा का यह अमर सेतु ही गलाकाट आर्थिक-राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता का शमन करने में समर्थ हो सकता है।

पौराणिक और मिथकीय जगत भारत भूषण अग्रवाल के पारम्परिक मन को शुरू से ही आकर्षित करता रहा। महाकाव्यों-खण्डकाव्यों के शिल्प में इसे प्रस्तुत करने की अप्रासंगिकता से वे अपरिचित नहीं थे और यह उनका मिज़ाज भी नहीं था। इसीलिए लम्बी कविताएँ उनके यहाँ गिनी-चुनी हैं। अलबत्ता गुप्त जी की परम्परा में रामकाव्य की एक ऐसी सर्वोत्तम कृति रचने की आकांक्षा उनमें ज़रूर थी, जिसमें वे पारम्परिक पृष्ठभूमि में किसी चरित्र के माध्यम से पुराने और समकालीन समाज के कुछ बड़े और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को उठा सकें। *अन्धायुग* की सार्थकता उनके सामने थी। कुछ-कुछ वैसा ही रूप वे *अग्निलीक* को देना चाहते थे। इसे वे खण्डकाव्य के बजाय पूरी तरह रंगमंच पर प्रदर्शन के योग्य बनाना चाहते थे और इसीलिए इसके वर्तमान प्रारूप से सन्तुष्ट नहीं थे। रामकथा के सीता वनवास के प्रसंग के बहाने वे राज्यसत्ता और जनता के बीच पिसते-जूझते नायक के अन्तर्विरोधों एवं उसके मानवीय आयामों को नये तरीक़े से उत्कट रूप में पेश करना चाहते थे और इस दृष्टि से इस प्रसंग के कई वैकल्पिक रूप उनके मन में थे। राम के निजी और सामाजिक अन्तर्विरोधों का ऐसा तनावपूर्ण-आक्रोशमय संयोजन करना उनका काम्य था, जिसमें कल्पित रामराज्य का वास्तविक रूप व्यक्त हो, पुराने प्रसंगों

के नये अर्थ उभरें-उक्तियाँ और तीखी, पैनी एवं नुकीली हों, आक्रमण और तर्क धारदार हों—अकाट्य हों। यह शायद वर्तमान राजनीति से भी कवि का मोहभंग था, जो इस रूप में सार्थकता पाना चाहता था। पूरे पारम्परिक परिवेश में तीखा आधुनिक बोध। इसीलिए वे राम को ईश्वर-आराध्य से अलग, सहानुभूति की बजाय मानवीय रूप में देखने के पक्षधर थे। यहीं वे वाल्मीकि-तुलसी और मैथिलीशरण गुप्त से अलग, कोरी प्रशस्ति के अलावा सीता का ऐसा चरित्र खोजना चाहते थे, जो निरीह बनकर ग़लत निर्णयों को सिर झुकाकर स्वीकार करने की बजाय, राज्यसत्ता की खोखली महत्त्वाकांक्षाओं, आडम्बरों और पाखण्डों की रक्षा के लिए आत्म बलिदान के बिना समूची व्यवस्था के पर्त-दर-पर्त धुर्रे उड़ा सके। जाहिर है कि यह दृष्टि राम चरित को स्वयं ही काव्य माननेवाली पूज्य दृष्टि से अलग थी। इसमें अग्नि-परीक्षा चरित्र-रक्षा की ट्रिक की बजाय ऐसी हक़ीक़त थी, जो ताप एवं लपटों से जलाती थी और ज़लील एवं अश्लील निगाहों से बचने के लिए लुप्त और अदृश्य हो जाना बेहतर समझती थी। निश्चित ही यह सीता को एक नये रूप में देखने का परिणाम था कि उन्होंने निरीहता से यथास्थिति को स्वीकार करने की बजाय तथाकथित रामराज्य की बखिया उधेड़ देने के मज़बूत तर्क पेश करते हुए इतने बड़े प्रश्नचिह्न खड़े किये, जिनके नीचे उसके कर्ता-धर्ताओं का ढोंग पिस गया।

भारत भूषण अग्रवाल ने भारतीय जनमानस में व्याप्त रामायण-महाभारतकालीन अनेक धारणाओं को शीर्षासन कराया। 'महाभारत की साँझ' रेडियो नाटक और 'अग्निलीक' इसके बेहतर उदाहरण हैं। रामराज्य का यह खोखलापन भारतीय राजनीति के गाँधी के आदर्शों के प्रसंग में और अधिक मौजूँ लगता है। यह रामराज्य से ही नहीं तत्कालीन राजनीति की जनविरोधी क्रियाओं से भी मोहभंग का प्रतिफल है। अन्यथा तो जिस राज में किसी को भी दैहिक, दैविक, भौतिक तापों के न व्यापने की गारण्टी थी, उसकी असलियत इतनी भयावह तो न होती। तुलसी जैसे कवि की तो हिम्मत ही नहीं हुई सीता-बनवास के प्रसंग को छूने की और वाल्मीकि ने भी चारण-प्रशस्ति की तरह ही उसका बखान किया। शम्बूक वध भी वहाँ अवैध अपराध न होकर शास्त्रसम्मत कार्य ठहराया गया। तुलसी ने तो अलग से कलियुग वर्णन करके रामराज्य में व्याप्त तमाम अनैतिकताओं पर पर्दा ही डाले रखा। भवभूति के यहाँ भी यह *उत्तररामचरित* के 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' नायक का कारुण्य और रुदन बनकर ही रह गया।

अग्निलीक में भारत भूषण अग्रवाल ने इसी बनी-बँधी लीक से हटकर रथवान, आदिवासी चरण और सीता के माध्यम से रामराज्य का अंधेरा पक्ष उजागर करके रामकथा को एक नया बौद्धिक एवं तार्किक रूप देने की कोशिश की अन्यथा तो यह भी अतीत की एक सरल टीका होकर रह जाता। इस दृश्य काव्य में सीता

का जो तेजस्वी रूप दिखता है, वही इसकी उपलब्धि है। स्वयं राम का आत्मालोचन सीता की श्रेष्ठता एवं एकाग्र निष्ठा को प्रमाणित करता है।

अग्नि-परीक्षा लेने के बाद भी दुर्मुख के मिथ्या लोकापवाद के कारण सीता के निष्कासन में, व्यक्ति और राजा राम की मर्यादा ने उनके व्यक्तित्व को दैवी अलौकिकता प्रदान की। मर्यादा का यह मूल्य सीता की अनिच्छा के बावजूद चुकाया गया, उनसे पूछा तक नहीं गया। अनकिये अपराध का यह दण्ड ही सीता के चरित्र को वह ऊँचाई दे सका कि त्रेता के शास्त्र और समाज से निकलते ही उन्होंने व्यक्ति राम और राजसत्ता को चुनौती दे दी। चरण और रथवान के सहयोग से जो लोक उन्होंने रचा, वहाँ वह राजमहल की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र थीं—अपने निर्णय लेने में। रथवान तो जानवरों से बदतर जीवन को भाग्य का विधान नहीं मान सकता। उसका दुःख ऐसा है, जिसे उसने न रचने-चाहने के बावजूद भोगा है। इसीलिए नये रामराज्य के नये राजपुरुष से जो मान और भोग से घिरा है और सत्य-निष्ठा जिसके लिए आचरण की नहीं आडम्बर की वस्तु है, पूछता है कि—

मैंने किसी का क्या बिगाड़ा था
जो मुझे इस कुकर्म में भाग लेना पड़ा।

राज्य का मोल चुकाने के लिए राम द्वारा अर्धांगिनी को त्यागने से असहमत रथवान को राजद्रोह का भी भय नहीं है। वह साक्षी है जब सीता ने राम की आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए भी लक्ष्मण से कहा कि—

बनवास देते समय इतना तो सोचते
कि जब उन्हें बनवास मिला था
तो मैं उनके साथ गयी थी
पर नहीं
तब हम पति-पत्नी थे
हमारा धर्म एक था।
अब वे महाराज हैं
और मैं उनकी प्रजा हूँ

(*रचनावली, खण्ड 2,* पृ. 37)

प्रजा के दुःखी होने के एवज में राजा को नरकवास देनेवाली व्यवस्था में प्रजा को ही नरकवास भोगना पड़ा। उनका सबसे बड़ा दुःख यही है कि वे राम की प्रजा हैं जहाँ उनके दुःख की सुनवाई भी नहीं है। इस अन्तर की चर्चा किसी रामकथा में नहीं है कि—

जिन राम ने कभी
सत्य के लिए राज्य ठुकराया था

उन्हीं ने बाद में
राज्य के लिए सत्य ठुकरा दिया

(पृ. 40)

जिन वनवासी राम ने रावण के विरुद्ध तमाम जंगली जातियों को एकजुट किया था, ब्राह्मणवादी शास्त्रों की मर्यादा की आड़ में उन्होंने ही शम्बूक का वध किया, जिसका कोई तर्कसंगत औचित्य नहीं था। चरण का आक्रोश उसी का प्रतिरोध है। राम के चक्रवर्तित्व व दिग्विजय का उपहास करता हुआ यह पात्र झण्डे पर बने चाँद के मुँह के टेढ़े होने के सवाल पर रो पड़ने की बात कहकर, रामराज्य की विसंगतियों को विद्रूप और निश्छलता—दोनों के साथ उघाड़ देता है। इस तथाकथित दिग्विजयी यज्ञ में सीता की बजाय उनकी प्रतिमा से काम चलाने की सूचना उन्हें और अधिक उद्वेलित कर देती है। देवी के अज्ञात रूप में घर से छूटी, अपने वृत्त से निष्कासित सीता का मोह और अन्तर्द्वन्द्व चरम पर पहुँचकर प्रतापी रघुवंशियों के विजय अभियान के विरुद्ध नाद से कान पखार लेने की कामना से ग्रस्त है। लेकिन इस तुमुल विजय नाद के नीचे कराहते प्रजा के हाहाकार की पहचान भी सीता को ही है। धन, जन और बल के इस अपव्ययी समारोह की बजाय वह राम को दिग्विजयी से ज़्यादा आत्मजयी बनते देखना चाहती है और राजा-महाराजाओं को वश में करने की अपेक्षा अपने ही अधीन क्षुद्र दृष्टि और लोलुप पण्डितों और वानरों को वश में करना ज़रूरी मानती हैं। सीता ही रामराज्य की निर्मम आलोचना की अधिकारिणी हैं। *अग्निलीक* में कवि-दृष्टि ने सीता का यह एक नया चरित्र गढ़ा है, जो पारम्परिक पतिव्रता से अलग है, क्योंकि वहाँ तो निरीह शिकार होने की ही आज़ादी है, प्रश्न उठाने की नहीं।

आलोचना की यही लोकतान्त्रिकता सीता को बाध्य कर देती है कि वह वाल्मीकि की उस सृष्टि को अपने ही हाथों ध्वस्त कर दे। चारण तो इस मामले में बेहद धृष्ट और अशालीन होकर पूछता है कि उस—

डाकू को वह जादू का शाल कहाँ से मिला
जिसे ओढ़कर वह कवि बन गया।

(पृ. 54)

इस तरह चारण शालीन सीता का अशालीन पूरक है। वाल्मीकि को राम की मर्यादा की चिन्ता थी, भारत भूषण अग्रवाल को सीता की। वह सीता, जो राम की परिणीता है फिर भी थोथी पवित्रता की बार-बार परीक्षा देने को बाध्य है या उसे बाध्य किया जाता है। पुरुष प्रधान समाज में स्त्री को ही अग्नि-परीक्षा की कसौटी पर बार-बार कसा जाता है। अश्वमेध यज्ञ में भी राम ऋषियों, साधुओं, पण्डितों, राजपुरुषों और प्रजा जनों के सामने सीता को अपनी पवित्रता पुत्रों की सौगन्ध खाकर प्रमाणित

करने को कहते हैं। सीता जिसने 'अपने पति के अतिरिक्त कभी किसी पुरुष को नहीं जाना है, जिसने राम से विवाह ही नहीं किया प्यार भी किया है, जिसने राम के साथ-साथ जीने और जीने की सार्थकता पाने के सपने पाले हैं, जो राम के बिना एक पल भी नहीं जी सकती।' उसी राम ने सब कुछ को निरर्थक बना दिया है, बिना किसी अपराध के उसकी निरुपायता, असहायता का कोई समाधान नहीं है, जो राम के लिए केवल धर्मसंकट है—

जिसका स्थान सोने की एक प्रतिमा ले सकती है
उसके जीने का प्रयोजन ही क्या है?

राम राज्य का कोई चारण पुरुष इस यन्त्रणा को नहीं समझ सकता। इस राज्य की सारी शोभा एक नारी के ही ऊपर है, जिसे वह कब तक, कहाँ तक ढोये? उसे कौन न्याय देगा ? ऐसे राम राज्य में उम्मीद भी कैसी जहाँ 'सत्य का कोई स्थान नहीं / सब कुछ शोभा के ही लिए है।'

सीता समस्त रघुवंश का नया भाष्य कर देने को तैयार है। रघुवंश की परम्परा में ही खोट है कि वहाँ राज्य की महत्त्वाकांक्षा ही सब कुछ है। 'नारी जिसे प्यार करती है उसके दोष नहीं देखती' लेकिन उसकी भी कोई सीमा होती होगी। सीता उस सीमा को लाँघ चुकी हैं। उन्हें पता चल चुका है कि रघुवंश के एक-एक पुरुष पर राज्य का उन्माद हावी रहता है। प्रजा पर अपनी महत्ता की छाप आँकने के लिए वह कहीं तक भी जा सकता है, एक अपढ़, नासमझ प्राणी के अनर्गल प्रलाप को भी वह अपनी प्रतिष्ठा का सर्वस्व बना सकता है। स्वार्थान्ध पण्डितों और ज्योतिषियों का कहा उनके लिए ब्रह्मवाक्य है, जिस पर सर्वस्व न्यौछावर किया जा सकता है—

इस ढोंग ने
इस झूठे दम्भ ने
खोखले आदर्शों के इस गर्जन ने
इनके मन को ऐसा भरमा दिया है
कि सच्चाई इन्हें दिखाई ही नहीं देती।

(पृ. 62)

जो प्रेम को आश्रित का धर्म समझता है। सीता आवेश में राम के पिता तक को आरोपित करने से नहीं चूकतीं। उन्हें क्या 'अधिकार था कि वे अपनी चहेती रानी के कहने से/ उत्तराधिकार का नियम तोड़ दें/ और सारी प्रजा को दुःखी कर दें।' जिस परिवार में नारी प्रेम के बदले राज्य माँगती हो और जहाँ राज्य, राजनीति, संग्राम और विजय ही हर पल की चिन्ताएँ हों, वहाँ एक नारी के प्यार का कोई मूल्य नहीं है। ख़ासकर 'वह पुरुष नारी के प्यार को क्या समझेगा/ जिसके पिता

ने तीन-तीन ब्याह रचाए हों/ और जिसने अपनी आँखों के आगे प्यार का सौदा होता देखा हो' (पृ. 63)। यह तल्ख़ बात वाल्मीकि, भवभूति और तुलसी की सीता नहीं कह सकती थीं। यह बराबर कहती है–

इस महान रघुवंशियों के कुल में
राज्य को इतना महत्त्व क्यों दिया जाता है?
और भावना का इतना निरादर क्यों होता है?

(पृ. 61)

सीता राम के प्रेम को दिखावे के अलावा कुछ नहीं मानती। उन्हें विश्वास नहीं होता कि–

जो पहले तिरस्कार कर चुका है
बहिष्कृत कर चुका है
धोखा दे चुका है
वह अब एकाएक सच्चा हो जाएगा।

(पृ. 56)

सच्चे तो वह तब होते जब प्रजा का मन रखने को राजा की तरह दण्ड देते और प्रेमी की तरह साथ चले आते। तब सीता को यह दण्ड यातना नहीं लगता–तभी सच्चा पतिधर्म निभता। लेकिन यह सब न हो सका और 'आसागरा धरा को अपनी बाँहों में भर लेने की इच्छा/ रघुवंश में अपनी कीर्ति सबसे ऊँची करने की लालसा' और महत्त्वाकांक्षा आड़े आ गयी। तभी तो विजयश्री मिल जाने के बाद पत्नी को गले लगाना तो दूर–दशा पूछना दूभर। पवित्रता की अग्नि साक्षी का आदेश उसके विश्वास को भीतर तक तोड़ देता है। प्रेम की इस व्यर्थता को समझकर भी मातृत्व के नाते जीवन धारण किए हुए सीता राम की राजनीति से भी कहाँ सहमत है? वाल्मीकि से वह स्पष्ट कहती है चक्रवर्ती होने में लगे राम को छोटी-छोटी बातों के लिए समय नहीं है।

प्रजा की व्यवस्था तो इन्होंने
व्योमलीन ऋषियों पर
योगलीन साधुओं पर
ग्रन्थलीन पण्डितों पर
और भोगमुग्ध वानरों पर छोड़ रक्खी है
जो हर समस्या का एक ही समाधान जानते हैं–
यज्ञ, अनुष्ठान, दान और ज्योतिष।

(पृ. 67)

राज-चर्चा के निषेध के नियम ने हर जगह स्थितियों को बदतर बना रखा है। ऐसी स्वाभिमानिनी सीता इस निर्मम सत्य को समझकर बहुत कठोर निर्णय लेती है, जिसमें न पत्नीत्व आड़े आता है न मातृत्व। वे कहीं भी ख़ुद को धर्मसंकट के रूप में नहीं लेने देना चाहतीं। अतः कहती है कि—

राम ने तो मुझे बहुत पहले ही छोड़ दिया था
आज मैं भी राम को छोड़ती हूँ।
अब मैं स्वतन्त्र हूँ, मुक्त हूँ,
अपने-आप में पूर्ण हूँ
आप अपनी निर्देशिका, आप अपनी कर्त्री और आप
अपनी भोक्ता हूँ

(पृ. 68)

सीता ने जिसे तन मन से चाहा, वही उन्हें पहचानने में असमर्थ रहे तो धरती की गोद में समा जाना ही क्या उसकी सार्थकता है? यह क्रिया हमेशा के लिए राम को ऐसे कठघरे में छोड़ जाना है, जहाँ वे अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को लेकर निरुत्तर रहेंगे। इस मिथकीय धारणा को बदलकर कोई कवि सीता की समान्तर व्यवस्था की कल्पना भी कभी आगे चलकर कर सकता है, लेकिन वह सम्भवतः पारम्परिक समाज को, जन को ग्राह्य न हो पाये?

इस घटना के बाद धरती के अतल में समा गयी सीता लव-कुश तक को अकेला और अभिशप्त छोड़ जाती है, जो स्वयं ही अपने माता-पिता होंगे और जिन्हें संकट में कोई भावनात्मक सहारा नहीं मिलेगा। ऐसी सन्तति आजीवन अभिशप्त रहेगी। परिवार के विघटन का परिणाम आज भी चारों ओर व्याप्त हिंसा और विकृतियों में देखा जा सकता है। यह रामकथा का आधुनिक बोध है।

सीता के दृश्य पटल से ग़ायब होते ही गगनचुम्बी राम का व्यक्तित्व और उनका रामराज्य के महल का ढाँचा भहराकर धराशायी हो जाता है। सारा भ्रम जैसे सीता के पावित्र्य और बार-बार की अग्नि-परीक्षा पर ही टिका हुआ था। यही जैसे राम को मनुष्य से ज्यादा ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठापित करने की आधारशिला थी। अचानक उन्हें अपने जीने की बड़ी भूल का अहसास होता है, जिससे सारे मन्तव्य ही उलट गये थे। इससे रामप्रेमी जनमानस को भी ठेस पहुँच सकती है, क्योंकि ऐसे आत्मस्वीकार की उम्मीद उसे राम से नहीं थी। यह तो सरासर विश्वासघात है—एक बनाये हुए ईश्वर का कि वह सोचने लगे—जिससे जूझता मैं वीरता का गर्व करता आया हूँ/ वह सचमुच कायरता थी और—

मेरा सारा नियम-संयम आडम्बर बनकर रह गया है
और मैंने अपनी आँखों देख लिया

कि प्रजा मुझसे दूर भागती है
और मेरे ही बच्चे मुझे चुनौती देते हैं।

(पृ. 73)

ऐसा क्यों हो रहा है? इसी का उत्तर राम के पश्चात्ताप एवं अपराध बोध की स्वीकृति में है, जो इतना उदात्त नहीं कि कह सके—

धिक् जीवन का जो पाता ही आया विरोध

प्रिया जानकी के उद्धार का जीवट तो कम से कम वहाँ था। यहाँ तो वह जैसे बकवास होकर रह गया है। अपने जनों से असंपृक्त और विच्छिन्न आत्मलीन और स्वनिर्मित लोक में जीने का आदी व्यक्ति ही निर्जीव जय-जयकारों की लीक में बँधकर न ख़ुद का कल्याण कर सका, न अपनी प्रजा का। तभी तो वह ऋषियों, पण्डितों और ज्योतिषियों को प्रजा का प्रतिनिधि समझकर उनके स्वार्थों की सिद्धि को प्रजा का सुख समझने का भ्रम पालता रहा और उसके ईश्वर होने की तो ऐसी पोल खुली कि वह समझ गया—

जिन्होंने मुझे ईश्वर बनाया है
वे सबके सब झूठे हैं

धर्म, कुल, रीति, परम्परा, मर्यादा, वेद शास्त्र, पुराणों के शब्द-पाश में बँधकर राम ने यज्ञ को कर्म और मर्यादा को सत्य की प्रतिष्ठा देकर यथार्थ से ख़ुद को और समाज को वंचित कर दिया। अतीत के इन्हीं स्तूपों की पूजा से वर्तमान जीवन नष्ट हो गया, साथ ही इतिहास और भविष्य ने दृष्टिभ्रम पैदा किया। इसी कारण राम की समझ में अकाल से तपस्या का तर्कसंगत सम्बन्ध नहीं आया और रूढ़िवाद एवं अन्धविश्वासों के चलते निरपराध शम्बूक का वध हुआ। ढोल, गँवार, शूद्र और नारी को एक ही स्तर पर रखने से जो विसंगति जन्मी उसी ने सीता को बार-बार प्रताड़ित कराया। राजा और प्रजा के बीच आयी इन बाधाओं ने मार्ग में अवरोध खड़े करके जीवन-धारा की गति रोक दी। वाल्मीकि के सामने राम का यह आत्मस्वीकार—भावनाएँ कुचलकर राजदण्ड को प्राथमिकता और आदर्श प्रदर्शन का घटाटोप ही, राम को उत्कृष्ट और आदर्श राजा के पद से च्युत करता है। इसी अपात्रता के कारण वह पत्नी, प्रजा, सन्तति और भूमि के जीवन से मुँह मोड़कर चाटुकारों से भरे संकीर्ण वृत्त में यशोगान सुनने में ही व्यस्त रहकर अकेला पड़ जाता है और दरबारी उसे मनमाफ़िक़ तरीक़े से कठपुतली की तरह नचाते रहते हैं। जबकि सीता शब्दजाल की बजाय जीवन की सच्ची और खरी अनुभूति से जुड़ी रहकर जीवन का अलख जगाती रहती हैं। यही कोरे आचरणविहीन ग्रन्थों तथा उदग्र आत्मचर्या का फ़र्क़ है। ग्रन्थों की नींव पर खड़े अन्धकार के परकोटों की बजाय जीवन की सच्ची अनुभूति ही इस अन्धे युग की वह अग्निलीक है, जिस पर चलकर प्यार, सत्य और

मुक्ति की प्राप्ति होती है। वरना तो सारा जीवन परकोटों के गुहान्धकारों में कट जाता है। राम ऐसे राज्य को सीता की यन्त्रणा का इतिहास मानकर आत्मघाती पलायन से बचना चाहते हैं? लेकिन क्या बच पाये। काव्य न्याय की बजाय जनश्रुतियाँ तो यही प्रमाणित करती हैं कि राम ने इसी परिताप के कारण जल समाधि ली थी। फिर आज रामराज्य की स्थापना करनेवाले क्या उन्हीं परकोटों में कहीं जी रहे हैं? इस अग्निलीक में जीवन की अन्ध आहुति तो उस आदर्श रामराज्य की बड़ी विफलता के अलावा कुछ नहीं है।

भारत भूषण अग्रवाल ने अपने इस काव्य नाटक में इन्हीं तमाम सवालों का भाष्य कर दिया है। बहुसंख्यक परम्परा-प्रेमियों की धारणाओं को यह अभी तक बहुत ज्यादा भले न बदल पाया हो लेकिन प्रासंगिक लम्बे समय तक रहेगा। इससे यह भी सिद्ध होगा कि रामराज्य को ही अन्तिम सीमा मानकर चलनेवाले लोग अपनी आँखें खुली रखें।

गद्य-काव्य

भारत भूषण अग्रवाल ने 1939 में गद्य काव्य का भी सृजन किया। ये अप्रकाशित टुकड़े अब जाकर रचनावली में प्रकाशित हो पाये हैं। इससे केवल अनुमान लगाया जा सकता है कि कवि के मन में इन्हें लेकर कोई संकोच रहा या यों ही अभ्यासवश इनका सृजन हुआ और प्रकाशन की सुविधा नहीं मिली या प्रयास नहीं हुआ। कारण जो भी रहा हो, इन 68 अप्रकाशित गद्य काव्य के आत्मालापी खण्डों की सार्थकता इतनी ज़रूर है कि कवि की तत्कालीन प्रकृति के आकर्षण और प्रेम की मानसिकता की पृष्ठभूमि से इनका गहरा सम्बन्ध दिखाई देता है। काल्पनिक प्रेयसी के उद्बोधन से भरे इन अंशों में रागात्मक लगाव, निराशा, पथविहीनता की नियति, प्रार्थना, मिलन का वैविध्य कविता का सहयोगी-आनुषंगिक भाव है। बल्कि कई बार तो भारत जी की बाद की अनेक गद्य कविताओं के लम्बे संलापों में इनकी प्रतिध्वनि साफ़ सुनाई देती है। 'निराशा सूर्यमुखी बाग़ में सिर झुकाए खड़ी है। अनिला अपनी गीली धोती में सिहरती-सी सकुचा रही है।' (*रचनावली*, खण्ड दो, पृ. 81) या 'मेरा जीवन तो एक रेखा है/ युगों से यह पड़ी हुई है! चिर एकाकी/ कोई भी इसमें न मिल सका।' (पृ. 86)। कवि की छायावादी स्वप्निल अभिलाषाएँ हैं, जिनके अभाव और स्मृति से उसके बाहर-भीतर की दुनिया भरती और ख़ाली होती है। नियति की इन क्रूर रेखाओं की भाषा का अर्थ न जाननेवाले के लिए माया और पहेली लगनेवाला यह परिवेश भुलावे में उसी काल्पनिक लोक में पलायन का माध्यम है, जहाँ जीवन के कठोर और खुरदुरे यथार्थ का सामना न करना पड़े।

इसलिए ये अंश प्रायःसंवादी आत्मालाप की अन्तर्मुखी प्रतिध्वनियों से भरे पड़े

हैं। प्राची से प्रतीची तक की निरन्तर भटकन में भी शाश्वत विरह जिनकी नियति है। 'मैं—प्यार—और तुम' के समीकरणों—विभिन्न स्थितियों की अभिव्यक्ति ही यहाँ है। 'तुम नहीं समझ सकतीं अपने को दो करने में मैं कैसा मिट गया हूँ/ पर तुम यह मत समझो कि मैं तुम्हें भूल गया हूँ' (पृ. 85) 'मेरा जीवन तो एक बादल है। कभी वाष्प बनकर और कभी नीर बनकर मैं निरन्तर सूनेपन में उठता-गिरता रहता हूँ,' के अस्तित्व का प्रश्न केवल दार्शनिक रहस्य नहीं, अन्तर्द्वन्द्व से ग्रस्त भावुक हृदय की उड़ान है। पास न आने और आकर्षण से मुक्त होने देने के बीच की माया के बीच प्रेमी हृदय गन्तव्य तय नहीं कर पाता। लेकिन निस्वार्थ हृदय की यह निर्मलता भारत जी को अन्त तक जो नैतिक ताक़त देती है, उसी के कारण उनकी कविता में प्रेम और जिजीविषा सम्भव हो पाई। साथ ही कविता में उनकी प्रतिभा के अन्य आयाम भी उभरे।

चूँकि यही सब काम भारत जी कविता से ले रहे थे, अतः उसकी यह पूरक विधा पीछे छूट गयी। यहाँ तक कि उसके प्रकाशन की भी आवश्यकता उन्हें महसूस नहीं हुई। फिर भी अब उसका ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही।

अनुवाद

बहुमुखी प्रतिभा का कोई भी रचनाकार केवल अपनी भाषा एवं साहित्य तक सीमित नहीं रह सकता, उसका विस्तार अन्यान्य विश्व भाषाओं में सृजित उत्कृष्ट एवं क्लासिक रूप में प्रतिष्ठित रचना एवं रचनाकारों तक होता ही है। भारत भूषण अग्रवाल ने भी रचनाकार के तौर पर और ख़ासकर साहित्य अकादेमी की नौकरी की प्रकृति के अनुरूप अनुवादक के रूप में इस चुनौती को स्वीकार किया। इस कार्य के दौरान उन्हें भारतीय प्रादेशिक भाषाओं की प्रकृति एवं आपसी सम्बन्धों, अनुवाद की जटिलताओं का भी अहसास हुआ। समस्त साहित्य की प्रेरणा के इस मूल स्रोत की पहचान के क्रम में उन्होंने असमिया, उड़िया, कन्नड, बाङ्ला कविताओं के साथ रूसी कविताओं के अनुवाद किए। संस्कृत, बाङ्ला और अंग्रेज़ी से प्रसिद्ध यूनानी नाटककार एस्कीलस के काव्य नाटकों का काव्यानुवाद भी उन्होंने किया।

आधुनिकता के चलते यह तथ्य आश्चर्यजनक है कि क्यों तमाम भारतीय भाषाएँ आपस में परिचित होने की बजाय अंग्रेज़ी के अधिक निकट हैं। यह तो और भी विडम्बनापूर्ण है कि हम पड़ोसी भाषा की रचनाओं को मूल की बजाय अंग्रेज़ी के माध्यम से जानें। भारत भूषण अग्रवाल इस विसंगति से पूर्णतया परिचित थे, इसीलिए उन्होंने अनुवाद-कार्य के द्वारा विच्छिन्न सांस्कृतिक सूत्रों को जोड़ने का प्रयास किया। साहित्य अकादेमी द्वारा सांस्कृतिक स्तर पर राष्ट्रीय एकता की प्रक्रिया के बतौर विभिन्न प्रदेशों के लेखकों एवं उनके कृतित्व को निकट लाने के क्रम में

हज़ारों कृतियों के हिन्दी अनुवाद की व्यवस्था आज भी जारी है।

इस अनुवाद-कार्य में अनेक कठिनाइयाँ थीं। कुछ लोग अनुवाद-कार्य को साहित्य-सृजन की अपेक्षाहीन एवं दोयम दर्जे का काम मानते हैं और सृजनात्मक लेखक के बराबर अनुवादक को स्थान देने से इनकार करते हैं। ऐसे में तमाम महत्त्वपूर्ण लेखकों ने अनुवाद कार्य हाथ में लेकर इस ग़लत धारणा का प्रतिरोध किया। भारत भूषण जी ने भी माना कि 'अनुवाद मौलिक रचना से भी कठिन कार्य है। और *एक सफल अनुवाद उतना ही आत्मसन्तोष* प्रदान करता है, जितना कि सच्चे साहित्यकार को अपनी रचना करने पर होता है।' कि 'अनुवाद कार्य सृजनात्मक लेखक के साहित्यिक व्यक्तित्व को भी सम्पन्न बनाता है... उत्कृष्ट साहित्यकारों की कृतियों के अनुवाद करना बहुधा उसे नयी दृष्टि देने और नये रास्ते पर चलने में मदद देते हैं, (*रचनावली*, खण्ड चार, पृ. 460-61)। इसीलिए भारत जी सृजनात्मक लेखक को ही अच्छा अनुवादक होने का सुपात्र मानते थे। केवल शाब्दिक प्रस्तुतीकरण उनका काम्य नहीं था और अनुवाद उनके लिए कोई यान्त्रिक कार्य होने की बजाय पुनर्सृजन था, जिसमें मूल कृति का साहित्यिक सौन्दर्य तथा विशिष्टता बरक़रार रहे। इस कार्य में वे ईमानदारी के साथ अनुवादक के स्वतन्त्रता लेने के पक्षधर नहीं थे। शाब्दिक अनुवाद और ईमानदारी के बीच की बहुत पतली रेखा के फ़र्क़ में उनका झुकाव ईमानदारी की तरफ़ था। वे जानते थे कि 'अधिकांश भारतीय भाषाओं में अन्य भाषाओं के समान अनेक शब्द और अभिव्यक्तियाँ समान हैं, पर फिर भी उनके वास्तविक अर्थों में बहुत अन्तर है।' साधारण और अच्छे अनुवादक की कोटियाँ निर्धारित करते हुए उन्होंने समझ लिया था कि साधारण अनुवादक इस अन्तर को समझ नहीं पाता और वह शब्दों को ज्यों का त्यों रहने देता है, जबकि "अच्छा अनुवादक कभी भी एक शब्द, एक वाक्य, यहाँ तक कि पैराग्राफ़ के अनुवाद करने की चेष्टा नहीं करता है, उसकी एकमात्र यही कोशिश होती है कि वह मौलिकता की गहराई और उसके सौन्दर्य को अक्षुण्ण रखते हुए सम्पूर्णता में अनुवाद करे।" (वही, पृ. 462)। वे अनुवाद को 1961 में देशज और सुविदित बना देने के भी विरुद्ध थे कि पाठक उसमें व्यर्थ ही मौलिक कृति की विशेषता को ढूँढ़ता फिरे। फिर वे यूनानी त्रासदी के अनुवाद में यूनानी देवताओं की जगह भारतीय पौराणिक देवताओं को रख देना भी उचित नहीं मानते। सतही समानता के आधार पर स्थानापन्नता के अलग ख़तरे थे। ये ख़तरे उन्हें 1956-57 में एस्कीलस के *प्रोमीथियस बाउण्ड* के अनुवाद के समय नहीं दिखे थे, क्योंकि तब उन्होंने इस ग्रहण की सुविधा की दृष्टि से यूनानी नामों का भारतीयकरण कर दिया था। निश्चित ही यह सुविधा मूल कृति के साथ अन्याय करती है। भारत जी ने अनुवाद में भी प्रयोगशीलता के ज़ोख़िम उठाये। सिन्धी न जानते हुए भी डा. हरूमल सदारंगानी

को रंगीन रुबाइयों का लेखक के सहयोग से किया गया अनुवाद इसका उदाहरण है।

यों तो भारत जी ने तमाम देशी-विदेशी भाषाओं से अनुवाद किये, लेकिन बाङ्ला उन्हें विशेष प्रिय रही। ख़ासकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर और विष्णु दे के उनके अनुवादों में अनुवादक का रागात्मक लगाव अलग से दिखता है। कवि के कलकत्ता प्रवास का भी इस लगाव में ख़ासा योगदान रहा है। इसी कारण काजी नज़रुल इस्लाम, प्रेमेन्द्र मित्र, जीवनानन्द दास, अरुण मित्र, जगन्नाथ चक्रवर्ती, अचिन्त्य कुमार सेन गुप्त, अतुल प्रसाद सेन का काव्यानुभव उनके लिए अपरिचित नहीं रहा। अपने ब्रजभाषा के माधुर्य से कवि ने इन अनुवादों को सरस एवं सुग्राह्य बना दिया है। 'नचते शिखी कुरंग संग बेसुध कदम्ब की गन्ध में' का यथार्थ 'ढलती धूप ने मेघों की रंगीन पाड़ बुनी है' से गुँथकर कविता के जिस मनोरम लोक की रचना करता है, वह भाषा और भाव में समग्र भारतीय अनुभव है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को अफ्रीका प्राची धरित्री की छाती से छीन ले जानेवाली रुद्र समुद्र की बाँह का कारनामा लगता है, तो अतीत उसे हमारे और अधिक निकट ले आता है—मानसिक रूप से। पूजा की छुट्टी बीतते ही रस्सा-रस्सी से चीज़ बस्त समेटता-छोड़ता बंगाली मानस दूर नीले अम्बर के मलीन मुख मण्डल में, द्वार-प्रान्त में बैठी स्तब्ध, लीन, मर्माहत चार बरस की बेटी का मुख देखकर स्मृति विह्वल हो उठता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीतों, कविताओं की मानवीय राग विरागमयी आभा इन अनुवादों में ज्यों-की-त्यों उभरी है तो ज़रूर यह शब्दानुवाद से बड़ी बात है।

यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि तमाम प्रादेशिक भाषाओं के सृजन में भाषा की संस्कृतनिष्ठता सर्वत्र व्याप्त है। वैज्ञानिक प्रतीक, उपमानों के बावजूद लोकभाषाओं का वैशिष्ट्य अनुपस्थित है। प्रेमेन्द्र मित्र एवं विष्णु दे की बौद्धिकता रवीन्द्रनाथ से आगे का विकास है, जो वादों की संकीर्णता से ऊपर उठने पर ही हासिल हुई। यहाँ ईश्वर की रहस्यमयी आध्यात्मिक सत्ता का भौतिक रूपान्तरण हो चुका है और दुनिया इलेक्ट्रॉन की मरीचिका के तमाशे में बदल चुकी है। विधाता भी अब इलेक्ट्रॉन के गणित एवं ज्यामिती से चलते हैं। ऐसे में 'सड़क के किनारे/ बाड़ से घिरा विदेशी वृक्ष' किसी भी दिन हठात् अपने पुष्पित आह्वान से चौंका दे सकता है। विष्णु दे की कविताओं का बौद्धिक तनाव तो अक्सर मुक्तिबोध की याद दिलाता है, ठीक वैसे ही जैसे रवीन्द्रनाथ के गीत निराला की। जाहिर है कि इसी एकसूत्र भारतीयता को अनुवाद सामने लाते हैं। इस कार्य से भारतीय एवं विदेशी भाषाओं के बीच सम्वाद का पुल तैयार होता है। भारत जी ने इन्हीं सूत्रों की तलाश में सृजनात्मकता को पाया। 'स्मृति सत्ता भविष्यत' का ग्लोबल अनुभव और नरक, विलायत की अभिजात दुर्गति के सर्वत्र व्याप्त प्रतिफल में जिस सत्ता

का स्वप्न मौजूद है, वह सुलाता-सहलाता नहीं, बेचैन करता है। फिर भी इस नरक में फाल्गुन की 'महुआ की ज्यामितीय बहार' जब तक है तब तक क्या डरना? जब तक पहाड़ रेखागणित के नाना रूपों में हृदय को मोह लेनेवाले प्रकृति के मोन्ताज की शक्ल में विद्यमान हैं, छल-कपट से रहित बालक बने रहने की चाह है, गलियों की धूल/ और बंगलों की नीरस क़तारों के ऊपर धुँधली-सी चमकती है एक बेकरी की गाँठदार रोटी' (खण्ड चार, पृ. 300) तब तक कविता को कुछ नहीं हो सकता। नारी और मज़दूर के पास मारकर जिलाने की ताक़त और पाओलो-फ्रांसिस्का जैसे प्रेमी युगलों का होना दुनिया को दिलचस्प और जीने लायक़ बनाने के लिए काफ़ी है। यही वह तत्व है जो विश्व के मूल प्राण स्रोत की ओर संकेत करता है। यहाँ आकर भाषा, देश, काल की सीमाएँ व्यर्थ हो जाती हैं।

भारत भूषण अग्रवाल के काव्यानुवादों में भावों के अनुरूप भाषा का उतार-चढ़ाव, व्यावहारिक शब्द-प्रयोग उन्हें एक अलग तरह की रवानी देते हैं। अपरिचित स्थलों के स्पष्टीकरण-संकेत और फौसिल, नरमसिल्क, अलस्सवेरे जैसे शब्दों का धड़ल्ले से इस्तेमाल अनुवादों को कृत्रिम तथा बोझिल नहीं रहने देता। काव्य नाटकों में तो पद्यों का अनुवाद इतना सरस है कि मूल होने का भ्रम पैदा करता है। उरुभंग के इस काव्यांश—

गजभुंडों के स्तम्भ जहाँ पर तने हुए थे
बाण बिखरकर दर्भ और कुश बने हुए थे
मरे हाथियों के फूलों का ढेर लगा था
प्रखर ज्वाल की भाँति लपटकर पैर जमा था।

(*रचनावली*, खण्ड दो, पृ. 381)

की भाषा बेहद सरल और चित्रात्मक है। यही अनुवाद-सामर्थ्य *चित्रांगदा* और *बन्दी प्रमथ* में विद्यमान है। वर्णनात्मकता ने अन्तर्द्वन्द्व की जटिलता एवं सघनता को कहीं बाधित नहीं होने दिया है—

इस विग्रह में हिंसा और देहबल दोनों
निष्फल होंगे, युक्ति अन्त में जय पाएगी। (पृ. 405)

की शैली मैथिलीशरण गुप्त की अभिधात्मकता की याद दिलाती है।

इन काव्यानुवादों के अलावा भारत भूषण अग्रवाल ने रवीन्द्रनाथ के नाटकों, गीत नाट्यों एवं जीवनी तथा शंकर के अनेक चर्चित उपन्यासों का सफल अनुवाद किया। *मैगसाई सार्क* नामक अंग्रेज़ी के जासूसी उपन्यास के साथ कृष्णा कृपालानी द्वारा लिखित *गाँधी की जीवनी*, युगोस्लाव लेखक इवो आन्द्रिच की कहानी *जेपापुल* तथा बारह हंगरी कहानियों को भी उन्होंने अनूदित किया। इससे उनकी प्रतिभा के विस्तार को समझा जा सकता है।

कथा साहित्य

भारत भूषण अग्रवाल की पहली प्राथमिकता कविता थी, हालाँकि हाथ उन्होंने कई विधाओं में आज़माया। इसीलिए काव्य नाटक और अनुवाद के अलावा काफ़ी कुछ उन्होंने 'कैजुअली' लिखा। इनमें उपन्यास और कहानियाँ भी हैं। कविता की अपेक्षा आत्मकथात्मकता के लिए उपन्यास का चयन सहज और स्वाभाविक प्रक्रिया थी, क्योंकि कविता उस तरह आत्मभिव्यक्ति का मौका नहीं देती। 1964 में प्रकाशित उपन्यास *लौटती लहरों की बाँसुरी* जो दिवास्वप्न की शैली में एक भावुक मन की अन्तर्कथा अधिक है, के नायक अशोक और वीणा में स्वयं कवि और कवि पत्नी तथा अनिता में प्रेमिका की छवि स्पष्टतः अभिव्यक्त है। *तारसप्तक* के इस कवि के भी दो शौक़ हैं—सिनेमा और सिगरेट और कवि अशोक के भी ये दो ही शौक़ हैं (*रचनावली*, खण्ड तीन, पृ. 8)। किशोर विद्यार्थी जीवन का यह आदर्श प्रेम केवल रोमांटिक आकर्षण तक सीमित है, जो कभी दोस्तों के साथ हँसी-मजाक में भी अमर्यादित नहीं होने पाता। ऐसे प्रेम में नर्वसनेस, उतावली का क्या कहना? सृजन के लिए सशक्त अर्थहीन ऊर्जा स्रोत। बादलों पर उड़ते कवि मन के लिए ऐसे प्रेम की कल्पना भर से 'पुस्तक के शब्द अर्थहीन हो जाते, आँखें धुँधिया जातीं' और सामने आते ही ख़ामोशी। भारत जी की प्रारम्भिक दौर की प्रेम कविताओं की अनुगूँजें यहाँ साफ़ सुनी और देखी जा सकती हैं। उस निर्गुण प्रेम का यह सगुण रूप है। आदर्श, विपन्नता और अभावों के बीच एक भावुक मन की अन्तर्कथा-सुखान्त प्रेमकथा।

इसके अलावा भारत जी के दो अधूरे उपन्यास अंश और मिलते हैं। जिनमें से एक तो अज्ञेय की *प्रतीक* में छपी प्रयोगशील धारावाहिक उपन्यास योजना की सातवीं किस्त के रूप में—*बारहखम्भा—7* लिखा गया। इसमें पूर्वकथा को जो कल्पनाशील रूप उन्होंने दिया, वह उत्सुकता भरा है और कवि-कल्पना की कथा सामर्थ्य का साक्ष्य भी।

दूसरा अंश *हुक्का पानी* है जिसे भारत जी *कच्चा चिट्ठा* नाम दिया था। जनवरी '55 में लिखा यह अंश कवि की दो खण्डों की उपन्यास योजना का प्रारम्भ है, जो पूरा न हो सका। अपने आसपास के परिवेश को जिस बारीकी से कवि ने शब्दबद्ध किया है, अपने पूरे रूप में वह अग्रवाल समाज का खाका ही होता। उसके पात्र लाला घासीराम, गिरधारीलाल, मन्नीलाल, बिस्सू पंसारी जीवन्त हैं और आज भी मौजूद हैं।

भारत जी का *अनुभूति, निर्वासन—प्रश्नचिह्न* शीर्षक का 1935 में लिखा अप्रकाशित उपन्यास अंश पत्र शैली में एक भावुक युवक की प्रेम कहानी के रूप

में उपलब्ध है। इन तमाम प्रयत्नों की छाया में उनके कवि का ही रूप निखरने में सहयोग मिलता है, यही इनकी सीमा और उपलब्धि कही जा सकती है।

जहाँ तक कहानी का सवाल है, भारत जी ने लगभग कविता के साथ ही कहानी लेखन का प्रारम्भ किया है। एक अद्भुत समानता उनकी प्रारम्भिक दौर की कविता-कहानियों में यह है कि काल्पनिक और वायवीय प्रेम दोनों में उपस्थित है। कविता में इस प्रेम के पात्र अमूर्त हैं, जबकि कहानी में मूर्त और जीवन्त। इसीलिए इस दौर की कहानियाँ काव्यात्मकता से परिपूर्ण हैं। 'नीरव रजनी थी तारिकाओं से चर्चित विमल व्योम शोभित था। भू-पृष्ठ पर शुभ ज्योत्स्ना छिटक रही थी। चारों ओर निस्तब्धता का साम्राज्य विद्यमान था।' (*रचनावली*, खण्ड तीन, पृ. 123) या 'सूर्य अस्ताचल की ओर वेग से प्रस्थान कर रहा था। रात्रि और संध्या प्रेम से एक-दूसरे का आलिंगन कर रही थीं।' (वही, पृ. 126) जैसे काव्यात्मक अंश उनकी कहानियों में आम हैं। इन कहानियों के पात्रों के बीच के रोमांटिक आकर्षण, त्याग और निश्छल आदर्श भावुकता से यह समझा जा सकता है कि भारत जी के साहित्य-सृजन के पीछे प्रेम भावना का कितना अधिक महत्त्व है। लम्पटता, अश्लीलता से इसका कोई वास्ता नहीं है। एक उदात्त मानवीय आकांक्षा से भरे इस प्रेम के कारण ही उनके साहित्य में एक तरह की सात्त्विक नैतिकता के सर्वत्र दर्शन होते हैं। इसीलिए अन्याय-अत्याचार-शोषण के विरुद्ध उनमें आक्रोश है। *वह* कहानी की भिखारिनी की गुण्डे से रक्षा करनेवाला नायक कहीं भी छिछोरा नहीं है, भले उसे हत्या के आरोप में गिरफ़्तार कर लेनेवाली पुलिस उसे अपराधी मानती हो। नायक के लिए भिखारिनी बहिन से बढ़कर है। 'सिंगारदान' के रामी का पत्नी की बजाय बहिन के लिए पक्षपात उसके आदर्श संस्कारों का ही प्रमाण है।

प्रेम भारत जी की कहानियों का लगभग स्थायीभाव है। इसी कारण उनकी शरच्चन्द्रीय प्रेम कहानियों की संख्या बहुत अधिक है। 'पायल की झनकार', 'रमा, ठेले वाला', 'सरोजिनी', 'अधिकार', 'वह मरना चाहती है' और 'रूपा' कहानियों के घटनाक्रम और पात्रों में जो रागात्मकता एवं उदात्त मानवीय भाव प्रस्फुटित हुए हैं, वह युवा हृदय की सहज अभिव्यक्ति है। प्रकाश और सविता, रमा और मोहन, मदन और शान्ता और मिस मेहता, सरोजिनी और सतीश, रमेश और लीला, सुजाता और शीला का भाई तथा रूपा ऐसे चरित्र हैं, जो प्रेम की विभिन्न जटिल स्थितियों को सामने लाते हैं। यह अनायास नहीं कि भारत जी की ये कहानियाँ नारी को सर्वोत्कृष्ट तथा उदात्त रूप में सामने लाती हैं। जैनेन्द्र की तर्ज़ पर लिखी कहानी 'वह मरना चाहती है' को जिस तरह से वे अधूरी कहानी के लिबास में प्रयोगशील तरीके से प्रस्तुत करते हैं, वह सुजाता एवं शेष समाज का रूढ़ियों, पिता संस्था की निरर्थकता एवं प्रेम विरोध को ही सामने नहीं लाती, बल्कि जैनेन्द्र जी द्वारा अपने

उपन्यासों में शुरू की गयी देह और मन के द्वैत की बहस को भी अलग आयाम में आगे बढ़ाती है। 'रूपा' की आत्महत्या नारी-स्वातन्त्र्य की विडम्बना को सामने लाती है। समाज जैसे पूरी और सच्ची स्त्री के विकास की परिस्थितियों को उपलब्ध कराने के बजाय तमाम प्रतिबन्धों को उस पर थोपकर उसकी भ्रूण हत्या और बच जाय तो ज़िन्दा मार डालता है या मरने को बाध्य करने में ही सफलता और सार्थकता देखता है। भारत जी की प्रेम कविताओं की तरह कहानियों में भी स्त्री स्वातन्त्र्य की खुली तरफ़दारी की गयी है, जो नारेबाज़ी से अलग है।

भारत जी का भावुक और सम्वेदनशील कवि हृदय अत्याचार, ग़ैर बराबरी एवं शोषण के प्रति कहानियों में अधिक मुखर है। 'अत्याचार' कहानी के रामलाल की बेगारी एवं ज़मींदार सुन्दर सिंह के आतंक के बीच, रामलाल के पुत्र की मृत्यु ज़मींदार के प्रति घृणा पैदा करती है। यही सोद्देश्य दृष्टि कविताओं में यान्त्रिकता के दोष से ग्रस्त हो गयी थी, जिससे कवि को अलग होना पड़ा। जबकि कहानियों में यह ज़्यादा सार्थक रूप में उभरी। यह कहीं न कहीं माध्यम का, विधा का फ़र्क़ था। 'एक रुपया' कहानी की राधा महीनों चार पैसे की मज़दूरी के बदले एक रुपया पाने पर यही योजना नहीं बना पाती कि वह उसे ख़र्च कैसे करे? वापस कर देने पर ही वह इस निन्यानवे के फेर से मुक्त होती है। एक-एक पैसे के लिए बेईमानी करने को तैयार बैठे माहौल में राधा जैसे चरित्रों का एकदम अभाव नहीं है—अपवाद भले हो, जो ईमानदारी को ही सबसे बड़ा सुख माने बैठे हैं और तमाम दारिद्र्य के बावजूद विचलित होने को तैयार नहीं। 'तमाशा' के नटों का अरण्य रोदन जिस अमानवीय दुत्कार का शिकार है, वह तथाकथित दयावान वर्ग की हक़ीक़त है। 'दयावान' कहानी की लूसी का दोहरा चरित्र भी इस दयालुता के खोखले नाटक की पोल खोलता है।

भारत जी की प्रारम्भिक दौर की प्रेम कहानियों से अलग कुछ ऐसी प्रयोगशील और परिपक्व कहानियाँ भी हैं, जो उन्हें गम्भीर कथाकार सिद्ध कर सकती थीं, अगर वाक़ई उन्होंने निरन्तर इस विधा में लिखा होता। इन कहानियों में शिल्प की प्रयोगशीलता, व्यंग्य और प्रखरता किसी तरह भी उत्कृष्ट समकालीन रचनाशीलता से कमतर नहीं है। सार्थक फ़ैण्टसी और विभाजित व्यक्तित्व इन कहानियों में भारत जी की कविताओं से कम सफल नहीं है। इस दृष्टि से उनकी 'शेर नर हो तो ऐसा हो', 'विषकारा', 'चाल घोड़े की', 'हंसों की मौत' तथा 'आधे-आधे जिस्म' कहानियाँ सर्वोत्कृष्ट कहानियाँ है—हर दृष्टि से। बेरोज़गारी, मानव प्रेम का खोखला दिखावा, भ्रष्ट व्यवस्था और दोहरे व्यक्तित्व ने समाज को ऐसी विडम्बनापूर्ण स्थितियों में ला पटका है कि उसका मन्तव्य ही भटक गया है। शेर, साँप, घोड़ा, हंस यहाँ प्रतीक भर नहीं हैं, बल्कि कथा के विन्यास में वे जिस गति को प्राप्त होते हैं, वह पूरी

प्रखरता से ऐसा अर्थ व्यक्त करते हैं, जो सामान्य से अलग और बहुआयामी है। 'शेर नर हो तो ऐसा हो' कहानी के बेरोजगार रमेश की मदद करता शेर अयथार्थ की दुनिया से धन्धे और स्वार्थ की ऐसी स्थिति में पूरक बन जाता है कि उसे भी दाँव पर लगा दिया जाता है। इस स्थिति का अस्वीकार एवं अन्त मनुष्यत्व को निकृष्ट एवं पशुधर्म को नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ ठहराता है। शेर की तरह मरियल घोड़ा भी बुढ़ापे में मालिक द्वारा दुर्गति को प्राप्त होने पर पेट के झंझट से मुक्त होकर शतरंज के ढाई घर के घोड़े में बदलकर निष्क्रियता से ग्रस्त हो जाता है, जहाँ कोई झंझट नहीं—'बस क़ायदे में रहो और मौज़ करो।' 'विषकारा' के साँप का भी आदमी की दुनिया का अनुभव अच्छा नहीं। अज्ञेय की 'साँप' कविता का भी यही मन्तव्य था। अंधेरनगरी के राजा, मन्त्री और दरबान की तिकड़ी से मरे हंस वर्तमान में सत्य एवं विवेक के विनाश के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। 'आधे-*आधे जिस्म'* के अफ़सर के हमशक्ल का विभाजित व्यक्तित्व तो 'मैं और मेरा पिट्ठू' का ही कथात्मक विन्यास है। 'विरोध' कहानी में केशव की रामलीला और घरलीला, व्यक्ति के अभिनय और आचरण के द्वैत को पूरी तराश के साथ सामने लाती है। बोध कथाओं की शक्ल में इन कहानियों का मर्म बेहद गम्भीर हो उठा है। ये कहानियाँ भारत जी के परिपक्व काव्य-व्यक्तित्व के चरम विकास का हिस्सा लगती हैं, बस माध्यम का ही अन्तर है।

नाटक

कविता के साथ ही साथ भारत भूषण अग्रवाल की रुचि बचपन से ही नाटकों में भी थी। रामलीला और नौटंकी से शुरू हुआ यह शौक कोरिन्थियन कम्पनी, न्यू अलफ्रेड कम्पनी के नाटकों से परवान चढ़ा और पं. राधेश्याम कथावाचक की शैली में 1933 के आस-पास से ही नाटक लेखन की शुरुआत हो गयी। डॉ. सत्येन्द्र के नाटकों में अभिनय एवं निर्देशन से 'सचेत रूप से प्रयत्न किये बिना ही' अनायास नाटक लिखने की प्रवृत्ति पनपने लगी।' 37 में पहला उल्लेखनीय नाटक *राखी* लिखा जो शिल्प की दृष्टि से बेढंगा और असफल ज़रूर था, लेकिन उसमें कच्चे मन की स्वप्नशीलता एवं अतिभावुकता और तीव्र मार्मिकता भरी थी। इस काँपते चरण के बाद पहला सफल नाटक लिखा गया *अभिमान* और फिर अन्त तक यह सिलसिला चलता रहा। फिर भी रंगमंच की दृष्टि से सफल नाट्य लेखन की कामना बनी रही।

कथ्य की दृष्टि से भारत जी ने ऐतिहासिक, सामाजिक और व्यंग्यात्मक नाटक लिखे। *पलायन, रत्नावली, गंगा की गाथा, महाभारत की साँझ, अजन्ता की गूँज, कामना का देश, साँची की गूँज, द्वापर की क्रान्ति* और *लक्ष्मण चरित* देश के गौरवशाली अतीत की रूपकमयी, संगीतयुक्त और कभी मौलिक व्याख्याओं-तर्कों की

नाट्य प्रस्तुतियाँ हैं। इनमें रंगमंच की बजाय रेडियो तकनीक मुख्य प्रेरणा रही है। इनमें से कुछ नाटक लेखक की आन्तरिक प्रेरणा के बजाय रेडियो की नौकरी की ज़रूरतों से उद्भूत थे, इसीलिए ये प्रायः *गति और कार्य-कलाप* के अभाव में रंगमंच के सर्वथा अनुपयुक्त थे। इनमें से कुछ नाटकों में ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं के अलावा ऐसी नवीन तार्किक उद्भावना निहित थी जो चौंकाने वाली थी। मैथिलीशरण गुप्त के प्रभाव के साथ इनमें वर्तमान के क्रान्तिकारी सिद्धान्तों की कल्पना भी निहित थी। *पलायन, महाभारत की साँझ* और *अजन्ता की गूँज* भारत जी के बहुचर्चित और प्रशंसित नाटक थे। *पलायन* को तो स्वयं उन्होंने भी अपनी 'सर्वश्रेष्ठ नाट्य कृति' माना। अज्ञेय इस नाटक से बेहद प्रभावित थे।

सिद्धार्थ की जीवन से विरक्ति और महाभिनिष्क्रमण तक की इतिहासप्रसिद्ध कथा में यशोधरा की बौद्धिकता-तर्क-वितर्क-*सखि ! वे मुझसे कहकर जाते* की करुणा से अलग और आगे की थी। गोपा ईश्वर के अस्तित्व को लेकर जो विमर्श सिद्धार्थ से करती है, वह जैसे गौतम बुद्ध का भावी सैद्धान्तिक आधार है, जिस पर उनका दर्शन खड़ा हुआ। ईश्वर को वास्तविकता के बजाय कल्पना और भय की पीड़ा से उत्पन्न बताकर यशोधरा ने वैदिक धारणाओं को ध्वस्त कर दिया। उसने तो यह भी समझाया था कि 'पलायन शक्ति का मार्ग नहीं हैं।' लेकिन अंबुज इसे सिद्ध नहीं कर सकता। *रत्नावली* में भी भारत जी ने तुलसी के पलायन का गम्भीर सृजनात्मक विश्लेषण किया है। स्त्री के प्रति उनकी पक्षधरता बुनियादी तौर पर कायम रही है।

ऐतिहासिक नाटकों में अतीत के जिस गौरव की झाँकी परिचायक रूप में भारत जी ने प्रस्तुत की है, वह रेडियो माध्यम की ज़रूरत के तहत है, अतः केवल भावुक क़िस्म की राष्ट्रीयता ही उनमें उभर पाती है। ऐसे स्थलों पर रचनाकार की प्रतिभा को अवसर नहीं मिल पाता। *अजन्ता की गूँज, गंगा की गाथा, द्वापर की क्रान्ति* और *लक्ष्मण चरित* रेडियो नाटक के शिल्प में औसत श्रोता की ऐतिहासिक समझ को अपनी तरह से दुरुस्त करते हैं। इनमें कृषि, पशुपालन, युद्ध, शान्ति एवं अत्याचार के ऐसे पहलू उभरते हैं, जहाँ जानकारी प्रमुख तत्त्व है।

तर्क और विश्लेषण की दृष्टि से भारत जी का रेडियो नाटक *महाभारत की साँझ* महाभारत के बाद के परिदृश्य को नये रूप में पेश करने के कारण महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण विनाश के बाद दुर्योधन की खोज में गये पाण्डव सरोवर में से उसे बाहर आने को ललकारते हैं। इस द्वन्द्व युद्ध की चुनौती को स्वीकार करना दुर्योधन की अनिवार्यता है। युधिष्ठिर और दुर्योधन के संलाप में पूरी कथा की एक ऐसी व्याख्या उभरती है, जो पारम्परिक अर्थ को न केवल उलट देती है, वरन् एक मौलिक दृष्टि से उसे प्रस्तुत करती है। दुर्योधन द्वारा अपने पक्ष की पुष्टि में दिये तर्क उसे ग़लत

की बजाय सही सिद्ध करते हैं और पाण्डवों का पक्ष असत्य एवं अन्यायपूर्ण लगने लगता है। यह भारत जी के सम्वादों की शक्ति के कारण है, जिनका लोहा उनके नाटकों को रंगमंच की दृष्टि से असफल माननेवाले आलोचकों ने भी माना है। व्यापक मानवीय सत्य की प्रतिष्ठा के अभाव में भी प्राचीनतावादी सामाजिक न्याय की इस प्रतिष्ठा को गले नहीं उतार सकते।

सामाजिक नाटकों में भारत जी को सम्वाद प्रधान कहानियों जैसे नाटक प्रस्तुत करने का दोषी माना गया। रेडियो में चाहे जैसी संवादमूलक रचना को प्रश्रय मिलने के कारण भी संख्या की अपेक्षा गुणात्मक दृष्टि से भारत जी के नाटकों की आलोचना हुई। लेकिन कवि होने के नाते रंगमंच की तकनीक की बजाय मार्मिकता ही उनका लक्ष्य रही और इस दृष्टि से उनके नाटक प्रभावात्मकता में असफल नहीं रहे। कविता की तरह इनमें भी मध्यवर्गीय मन की छटपटाहट देखी जा सकती है। दहेज के कारण बहुओं की भारतीय परिवारों में दयनीय स्थिति भारत जी की संवेदना को गहरे छूती है। इसीलिए *बेटी की विदा* और *लज्जा* एकांकियों में शीला और लज्जा के विरोध की दिशाएँ यथार्थ के दो कोण हैं। शीला आत्महत्या को चुनती है, जबकि लज्जा लालचियों की कठोर भर्त्सना करके उन्हें नीचा दिखाती है। लज्जा उन स्त्रियों में नहीं जो हर हालत में पति के चरणों में स्थान पाकर धन्य होती हैं। वह 'ऐसे कायरों से बात नहीं करना चाहती, जो अपने बचाव के लिए दूसरों को झूठा बना सकते हैं। उनकी बेइज़्ज़ती कर सकते हैं। लज्जा उनका मुँह भी नहीं देखना चाहती जो प्यार को मजाक़ समझते हैं, जो लालची हैं, डरपोक है' (*रचनावली,* खण्ड तीन, पृ. 296)। पुरुषप्रधान सामन्ती समाज में ऐसी निर्भीक युवती की कल्पना एक क्रान्तिकारी कदम है। *भाभी* एकांकी का रामेश्वर तो अपनी पत्नी के विरुद्ध माँ के अन्याय का खुला विरोध करके नयी परम्परा क़ायम करता है भले ही उसकी पुराणपन्थी माँ उसे इसके लिए कितना ही ज़लील करे। *अभिमान* के पति-पत्नी भुवन और शांता के बीच का वैमनस्य जिस समन्वय में व्यक्त होता है, वह आदर्श दाम्पत्य की आवश्यकता है।

भारत जी—इसी तरह *युग-युग या पाँच मिनट, बीमारी, दृष्टिकोण, परछाईं, बाजे मोरी पायल* नाटकों में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में आयी असमानता एवं विसंगतियों का समाधान तलाश करने की कोशिश करते हैं। *युग-युग* या *पाँच मिनट* की क्षणिक स्वार्थी-अवसरवादी सम्बन्धों का बदलाव कोरा व्यंग्य न होकर यथार्थ है, जिसका दोष किसी एक को नहीं दिया जा सकता। सम्बन्धों की यह प्रवृत्ति अब अपवाद न होकर आम है।

इन छोटे-छोटे नाटकों का समग्र प्रतिफलन पीढ़ियों के द्वन्द्व के रूप में भारत जी के नाटक *और खाई बढ़ती गयी* में उभरा है। पिता और पुत्र के बीच दृष्टि

एवं विचार के भेद की स्थिति नयी नहीं है। अनेक रचनाओं में यह स्थिति बड़े ही सूक्ष्म एवं कलात्मक रूप में आ चुकी है, लेकिन इस नाटक का महत्त्व अपनी जगह कायम है। इसमें निहित मार्मिकता के कारण 'रेडियो पर इस नाटक को सुनकर सैकड़ों लोगों की आँखें सजल हुई हैं। (*रचनावली,* खण्ड चार, पृ. 19) और लेखक के साहस की प्रशंसा हुई है। यह केवल पात्रों के गले के उतार-चढ़ाव की क्षमता एवं शक्ति के बूते सम्भव नहीं है। यहाँ सम्बन्धों की अमानवीय स्थिति कितनी ही तिक्त, विलक्षण और करुणाशून्य हो, अनुभूति की दृष्टि से नक़ली नहीं है। इसमें भले किसी का 'व्यक्तिगत इतिहास, किसी की डायरी के पन्ने' दिखाई दें, कलात्मक अभिव्यक्ति का अभाव लगे, रचना की सशक्तता में कोई सन्देह नहीं है। पता नहीं क्यों, भारत जी के समस्त जीवन से परिचित उनके मित्र नेमिचन्द्र जैन को भी इसमें भोगे हुए अनुभव की आत्मकथात्मक अभिव्यक्ति नज़र नहीं आयी? जबकि यह तो सचमुच भारत जी का प्रामाणिक आत्मचरित तक कहा जा सकता है।

भारत जी के खाँटी व्यंग्यकार ने नाटकों में भी अपना कौशल दिखाया है। शब्दों से खिलवाड़ और प्रयोग तो उनके प्रिय कर्म हैं। *गीत की खोज, इंट्रोडक्शन नाइट, घिसी दुअन्नी, हाँ ना और हाँ मगर ना* उनके ऐसे ही रेडियो नाटक हैं, जिनमें हास्य-व्यंग्य की मनोरंजक स्थितियाँ मौजूद हैं। फ़िल्मों के निर्माण में कैसे-कैसे फूहड़ सेठ अपनी विकृतियों की पूर्ति मनमाने तरीके से करना चाहते हैं और गीतकार की उनमें कैसी हास्यास्पद भूमिका रह गयी है, यह किसी से छिपा नहीं है। इंट्रोडक्शन के नाम पर भोंड़ी रैगिंग ने स्कूल, कॉलेजों का माहौल दूषित कर दिया है। कुरुचि और कुसंस्कार भारत जी के व्यंग्य के निशाने पर आये बिना नहीं रहते। संशयग्रस्त मानसिकता शिक्षित मध्यवर्गीय व्यक्तियों को कैसे व्यक्तित्वहीन और अजीब शैली का शिकार बना देती है—इसका साक्षात् प्रमाण *हाँ ना* और *हाँ मगर ना* एकांकी में मिलता है। भारत जी ने संवादों की शैली से इस मानसिकता को सोदाहरण व्यक्त करके, अभिव्यक्ति सामर्थ्य और पैरोडी कला की क्षमता को प्रमाणित कर दिया है।

भारत जी के ये नाटक केवल कवि मन की प्रतिक्रियाओं, सम्वादयुक्त कहानियों के रूप में न होकर उनकी बहुमुखी प्रतिभा का विस्तृत रूप हैं, जिनके बिना उनकी अभिव्यक्ति को समग्र रूप नहीं मिल पाता।

निबन्ध

भारत भूषण अग्रवाल कवि के साथ सजग, विचारवान पत्रकार-सम्पादक भी रहे थे। 'समाज सेवक' के सम्पादक के रूप में, कलकत्ता में उन्होंने जो अग्रलेख लिखे थे, उनका सम्पूर्ण ब्यौरा देखा जाए तो उनकी वैचारिक गम्भीरता, पैनी विश्लेषणपरक भविष्य दृष्टि का पता चलता है। ब्रिटिश शासन की विरोधी राष्ट्रवादी विचारों के

प्रति दमनपूर्ण नीति के कारण भारत जी को अनेक छद्म नामों और उपनामों का सहारा भी लेना पड़ा था। वे 'समाज सेवक' में अक्सर 'गिद्धराज' के नाम से वैचारिक टिप्पणियाँ लिखा करते थे। 1942 का यह दौर भारत की आज़ादी के लिए कितना महत्त्वपूर्ण था, इसे अलग से रेखांकित करने की ज़रूरत नहीं है। ये टिप्पणियाँ एकदम तात्कालिक क़िस्म की नहीं थीं। आज भारत में प्रजातन्त्र और वैचारिकता का जो स्तर है, उससे इनका गहरा सम्बन्ध है। 'प्रजातन्त्र के लिए संक्रान्ति काल' में इस व्यवस्था के गुण-दोषों का जो निष्पक्ष विवेचन उन्होंने किया है, वह काबिलेगौर है, क्योंकि यही शासन पद्धति सर्वाधिक खुली और प्रयोगशीलता से भरी है। बर्नार्ड शॉ के *द एपल कार्ट* के माध्यम से शुरू की गयी यह बहस कि 'वर्तमान समय में जिसे हम प्रजातन्त्र कहते हैं वह एक उच्च वर्ग द्वारा शासन है और उसमें प्रजा एवं जनता का कोई हाथ नहीं है' (*रचनावली,* खण्ड चार, पृ. 443) आज भी प्रासंगिक है। प्रजातन्त्र और अधिनायकवाद दोनों को ही साम्राज्यवादी माननेवाले विचारक की समझ कितनी दुरुस्त है और वह आमजन के हितों के लिए कितना प्रतिबद्ध है, यह छिपा नहीं रहता। फ़ासिस्ट अधिनायकत्व की समस्या द्वितीय महायुद्ध तक सीमित नहीं थी, उसका अस्तित्व आज भी विद्यमान है, भले ही रूप बदल गया हो। फिर भी अधिनायकत्व क्या प्रजातंत्र से महज इसलिए बेहतर माना जा सकता है कि 'उसकी प्रणाली में समस्त राष्ट्र एक इकाई बनकर रहता है, जबकि प्रजातन्त्र की व्यवस्था बड़ी गड़बड़ में रहती है।' प्रजातन्त्र के ये अन्तर्विरोध एक दिन में हल नहीं हो सकते। रूस की व्यवस्था भी इन्हीं अन्तर्विरोधों के कारण चरमराकर ढह गयी जो कि आदर्श मानी जाती थी।

आज भारत को जो पश्चिमी शक्तियाँ अपनी शर्तों पर नचाना चाहती हैं, उनका प्रतिकार गाँधी की पद्धति में है, जिसे तथाकथित आज़ादी के बाद ही जानबूझकर भुला दिया गया था। स्टेफ़र्ड क्रिप्स मिशन के जिन प्रस्तावों को गाँधी जी ने 'एक डूबती बैंक के नाम अग्रिम चेक' कहा था, वह भारत के हित की दृष्टि से सही था। आज के नेता तो उस चेक को सहर्ष-साभार नतमस्तक होकर ग्रहण करते, जैसे कि अब करते हैं। भारत जी ने भारत की अपेक्षा चीन की व्यवस्था की जो प्रशंसा की थी उसका सत्य अब जगजाहिर है। 'अफ़ीम के नशे में मस्त आलसी चीनी और लोहे के जूतों में जकड़ी गतिहीना चीनी' बालाओं ने आज विश्व अर्थव्यवस्था में जो सम्मानपूर्ण स्थान बनाया है, वह अप्रतिम और अनुकरणीय है।

उस दौर के तमाम लेखों से भारत जी की राजनीतिक समझ का जो ग्राफ़ बनता है, वह रचना से कमतर नहीं है। राजनीति से प्रत्येक जागरूक व्यक्ति का लगाव होना स्वाभाविक है। वामपन्थी राजनीति के प्रति भारत जी का झुकाव अन्त तक बना रहा, लेकिन दलीय जकड़बन्दी और यान्त्रिकता से वे बचते रहे। राजनीति

की अपेक्षा स्वतन्त्रता के बाद लेखक और लेखन के अवमूल्यन की चिन्ता से वे परेशान थे। उन्हें लगता था कि इस दौर में 'हिन्दी साहित्य का संख्यात्मक विस्तार अधिक हुआ है, गुणात्मक नहीं। आज साहित्यकार राजपुरुष से छोटा हो गया है और इससे हमारी सृजनात्मक गति पर प्रभाव पड़ा है' (*रचनावली*, खण्ड चार, पृ. 468)

भारत जी समकालीन साहित्य की बहसों से कटे किसी शाश्वत लोक के रचनाकार नहीं थे। उन्हें ज्वलन्त बहसों में भाग लेने में—अपना पक्ष—दृष्टिकोण प्रस्तुत करने में कर्तव्य-बोध होता था। ऐसा करने के लिए उन्हें किसी छद्म नाम की ज़रूरत नहीं होती थी। बाल साहित्य, अनुवाद, भाषा विवाद, पत्नी और प्रेयसी पर विचार हो या कवि सम्मेलनों की स्तरीयता का मामला भारत जी एकदम स्पष्ट थे। बाल साहित्य के महत्त्व और ख़तरों के बारे में सुचिन्तित व्यवस्थित रूप में बात करने वाले वे अकेले वरिष्ठ साहित्यकार थे। बच्चों के लिए उत्साहपूर्वक खिलौने और मिठाइयाँ ख़रीदनेवाले माता-पिता को उन्होंने उसी तत्परता से 'सुन्दर-सुन्दर' मनोरंजनकारी पुस्तकें' ख़रीदने की नेक सलाह दी। उन्होंने बच्चों के स्वतन्त्र व्यक्तित्व और महत्ता के वैशिष्ट्य को स्वीकार किया। वे बच्चे को नासमझ, दूसरे दर्जे का नागरिक और संलग्न वस्तु मानने को तैयार नहीं थे।

भारत में विद्यमान भाषा विवादों और हिन्दी एवं प्रादेशिक भाषाओं की स्थिति में भारत जी ने स्वार्थपरक-विवेकहीन-पक्षधरता की बजाय निष्पक्ष दृष्टिकोण पर बल दिया। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की मोर्चाबन्दी की बजाय हिन्दी के पत्रों में या हिन्दी की सभाओं में उसके पक्ष की पुष्टि करने का, उनकी दृष्टि में कोई विशेष अर्थ नहीं था, बल्कि इससे ज़्यादा हास्यास्पद कुछ नहीं था। हिन्दीवालों के अंग्रेज़ी के प्रति झुकाव के दोहरे आचरण से उन्हें क्षोभ होता था। इसीलिए वे उत्साही स्वप्नशीलता की बजाय व्यावहारिक नियमों को अपनाना—अपने को अतिरिक्त महत्त्व देने की बजाय—पड़ोसी को जानना—ज्यादा ज़रूरी समझते थे। हिन्दी साम्राज्यवाद जैसी धारणा उन्हें रास नहीं आती थी। हिन्दी के केन्द्रीय भाषा होने से पहले प्रदेशों में मातृभाषाओं की प्रतिष्ठा, इसीलिए उन्हें ज़रूरी एवं प्राथमिक लगती थी। उनके विचार से 'केन्द्र से प्रदेश की ओर भाषा-संक्रमण संघीय चरित्र नहीं है, साम्राज्यवादी चरित्र है। प्रदेश से केन्द्र की ओर संचरण संघीय भी है और गणतंत्रीय भी। मिश्रित और समन्वित संस्कृति उनका लक्ष्य था—काम्य भी। इसी में उन्हें सारी उलझनों और अन्तर्विरोधों का हल मिलता दिखाई देता था। इसकी अनदेखी के कारण ही अंग्रेज़ी का वर्चस्व भारतीय समाज में बढ़ता जा रहा है, फलतः उस भाषा से जुड़ी संस्कृति का भी।

भारत जी साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र की समस्याओं और बहसों से अन्त तक

पूरी गम्भीरता से जुड़े रहे। 'काव्यं यशसे अर्थकृते...' में अर्थ निरन्तर प्रमुख होता गया है। लेखन से जीविका कमाने, न कमाने की बहस शुरू से चलती रही है। उसके अच्छे-बुरे परिणामों की तुलना से तरह-तरह के निष्कर्ष भी निकाले जाते रहे हैं। लक्ष्मी और सरस्वती के पारम्परिक वैर की अन्तर्कथाएँ केवल दारिद्र्य का कवच बनती रही हैं, लेकिन अब लक्ष्मी के प्रति अरुचि लेखकों यानी सरस्वती पुत्रों में नहीं है। भारत जी के 'लेखक की लक्ष्मी' और 'कवि सम्मेलन का आयोजन' जैसे निबन्ध सृजन और अर्थ के सन्तुलन को नैतिक एवं उर्वर बनाने के गवाह हैं। एकमात्र अर्थ उनका उद्देश्य था भी नहीं। लेकिन वह 'घर फूँक तमाशा' भी नहीं था। 'जान बूझकर ग़रीबी का रास्ता' चुनने की भूल लेखक ही क्यों करता है? इस जुनून का कारण समझना आसान नहीं है। मिशन और प्रोफ़ेशन का फ़र्क़ अब कम क्यों होता जा रहा है? यह भी विचारणीय है। आत्मसंकोच में कई साहित्यकार घर तक नहीं बसा सके, इसके पीछे अर्थाभाव भी एक कारण था—इसीलिए बहुत से रचनाकार अकाल कवलित हो गये। इसी भय से 'जितने लोग कॉलेज के दिनों में साहित्य रचना की ओर झुकते हैं, उनमें से शायद पाँच या दस प्रतिशत ही आगे चलकर साहित्य की रचना करते हैं। बाक़ी लोग उस रास्ते को काँटे की राह समझकर छोड़ देते हैं; साहित्य का पठन-पाठन जब ठलुआगिरी मान ली जाए तब उसके पनपने का सवाल ही कहाँ ठहरता है?'

भारत जी ने घर-संसार को नष्ट करके साहित्य की सेवा करने की वकालत नहीं की। गृहस्थ को प्राथमिकता देने के कारण होल टाइमरों ने उनकी बहुत आलोचना की और उन्हें महज इसी कारण मीडियाकर माना गया। जबकि उन्होंने तात्कालिक उफ़ान में ज़िन्दगी भर पछताने का रास्ता न चुनकर मध्यमार्ग चुना। उनके लिए गृहस्थी सुविधा-विलास और भोग का माध्यम न होकर उसके द्वारा समाज, राष्ट्र और विश्व से सम्बन्ध जोड़ना था। जिसे छोड़कर 'जब लेखक अकेला एक इकाई बना फिरता है तो उसके व्यक्तित्व में उन सूत्रों का अभाव हो जाता है, जो उसको समाज से और उसके जीवन को यथार्थ से बाँधता है।' संन्यास उनकी कामना नहीं था न वे साहित्यकार बनकर शहीद होना चाहते थे। एकाकी बनकर जीना उनके बस की बात नहीं थी—ऐसे लोगों से उन्हें ईर्ष्या ज़रूर थी।

साथ ही भारत जी साहित्यकार के विशेषाधिकार के पक्षधर नहीं थे। आर्थिक सुविधा और संरक्षण से प्राप्त सुरक्षा को वे बेहतर सृजन की गारंटी नहीं मान पाते थे। उन्होंने इस दृष्टि से एक विचित्र विश्लेषण किया और पाया कि 'सरकारी कर्मचारी, पत्र-पत्रिकाओं में काम करनेवाले व्यावसायिक फ़र्मों के नौकर, फ़िल्म और रेडियो के कलाकार आदि' का काम करनेवाले 90 प्रतिशत लेखकों की रचनाओं में वह गरिमा और उदात्तता नहीं मिलती, जो सच्चे और महान लेखक में होती है।'

उन्हें यह बात विचारणीय लगती थी कि कष्ट और अभावों से मुक्ति पाकर भी सोवियत संघ के लेखक कोई मार्के की रचना क्यों नहीं दे पाए? इसीलिए वे इस तरह के स्थूल खानों से सरलीकृत निष्कर्ष निकालने की बजाय साहित्य के प्रति ईमानदारी बरतना ज़रूरी मानते थे। निःशुल्क स्वस्थ मनोरंजन के लिए आयोजित होनेवाले कवि सम्मेलनों में अर्थ प्राप्ति, लोकप्रियता के सस्ते-भौंडे-विदूषकीय लटकों-झटकों से इसीलिए उन्हें परहेज रहा और एक ऐसी आचार संहिता उन्होंने दी जो सच्चे साहित्य को आगे ले जा सके।

भारत जी हर मामले में नैतिकता और गरिमा का न्यूनतम स्तर बनाये रखना चाहते थे। पत्नी और प्रेयसी की बहस को जो लोग खुले यौनाचार का प्रमाणपत्र बना देना चाहते थे, उसका उन्होंने विरोध किया। 'ग्लास वाटर थ्योरी' को वे कभी गले नहीं उतार पाए और 'दोनों हाथ लड्डू' की सुविधा को उन्होंने स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वह रास्ता अक्सर पराजय और समझौते का रास्ता होता है, जो कितनी भी पतनशील और अमानवीय विकृतियों को तार्किक सुरक्षा दे सकता है। इसी कारण वे जैनेन्द्र जी की उठायी इस बहस को विवाह और प्रेम के क्षणिक स्पर्श तक सीमित मानते रहे।

कवि के गद्य में प्रसन्न-लालित्य होना सहज गुण हैं। भारत जी का गद्य काव्य और ललित निबन्ध इससे अछूते नहीं हैं। अपने पर हँसने का ऐसा गुण उनमें था, जो हर तरह से उन्हें और उनके लेखन को पारदर्शी बनाता है। घटनाओं और व्यक्तियों के अनुरूप एक ऐसा बोध उनमें मौजूद था जो उन्हें एक विशेष एंगल से देखने को बाध्य करता था। 'नागर जी की वार्ता', 'राजधानी में राष्ट्रकवि', 'राव साहब' और 'रामायण पाठ' के प्रसंगों में भारत जी की विदग्धता देखते ही बनती है। रेडियो की सरकारी नीतियों की विवशता कैसे एक साहित्यकार को नख-दन्त विहीन और अमूर्त बनाती है एवं उसके स्वाभिमान एवं जीविका को दाँव पर लगाती है, इसका पूरा हाल नागर जी की वार्ता में उपस्थित है। समझौता करना ही पड़ता है—नागर जी जैसे वरिष्ठ और स्वतन्त्र साहित्यकार को—ऐसे तन्त्र से। मैथिलीशरण गुप्त जी के समग्र व्यक्तित्व और कृतित्व की छाप तो भारत जी के व्यक्तित्व और लेखन पर आद्यन्त रही। यह छाप भक्ति भाव के रूप में दिखाई देती है, जिसे अन्य आडम्बर प्रिय रचनाकारों की तरह उन्होंने कभी नहीं छिपाया, न संकोच के तहत ढका। दिल्ली 'जहाँ की ठोस ऊँची दीवारें और लम्बी काली सूनी सड़कें इसका नाम भी नहीं जानतीं।' जहाँ एक संलापहीन स्थिति सम्बन्धों में पसरी रहती है, वहाँ संवादप्रिय कवि का मन गुप्त जी जैसे खुले और उदार शरणस्थलों की तलाश में रहता है। इसी कारण भारत जी को विसंगति-विडम्बना का इतना तीखा बोध था कि वे उसे उजागर किये बिना नहीं रह सकते थे, फिर चाहे उनकी जान पर ही

क्यों न बन आये। स्पष्टवादिता के कारण अक्सर उनके बेहद नज़दीकी लोगों से भी सम्बन्ध ख़राब हो गये। उनके निबन्धों में खुली आत्मपरकता एक ऐसा निजी आस्वाद रचती है, जो उन्हें जीवन्त दृश्य में बदल देती है। 'तुलसी जयन्ती' के बहाने सेवानिवृत्त आचार्य की विदाई में निहित आडम्बर पर सूक्ष्म और मार्मिक व्यंग्य समूचे घटनाक्रम का भावार्थ ही बदलकर रख देता है। 'बारात की ड्रेस', 'किस्सा नीलम की अँगूठी का', 'आकाशवाणी में साँप', 'ख़बरदार निमंत्रण पत्र भेज दूँ', 'मैने स्पेशल बस चलायी' उनके जीवन की वास्तविक घटनाएँ हैं, जिनका यथार्थ और लालित्य भारत जी की बदतर स्थितियों में भी तटस्थ व्यंग्य का आनन्द लेने की क्षमता का परिचायक है। 'मेरी नींद मेरे खर्राटे', 'सिगरेट पीने वाले का अपराध बोध' जैसे निबन्ध निहायत निजी स्थिति के सामाजिक प्रभाव के रेखांकन हैं। इसी शैली के कारण प्रायः उनकी एक साधारण-सी बात के गूढ़ अर्थ खुलने लगते हैं। 'हम क्यों लिखे', 'लेखक? नहीं-नहीं' एक (अ) पाठ्य कविता की कथा' कुछ न लिखते हुए सब कुछ लिख देने की ऐसी शैली है, जहाँ सहमति-असहमति जैसी स्थूल धारणाएँ पीछे छूट जाती हैं। समाज में लेखक की निरन्तर गिरती हुई आर्थिक हालात में लेखक होने का सुझाव कोई कैसे दे सकता है? पाठ्यक्रम की पाठ्य पुस्तकों की तैयारी में लापरवाही किससे छिपी है?

भारत जी ने अपने निबन्धों में आत्मपरकता के साथ रूपक रचे, वह उन्हें भारतेन्दु के दौर के उत्कृष्ट निबन्धकारों—प्रताप नारायण मिश्र और बालमुकुंद गुप्त की परम्परा के साथ आधुनिक धारा से भी जोड़ते हैं। उनका लालित्य संस्कृत की बजाय लोकजीवन के अधिक निकट है। 'साहित्य में मछली : एक शोध' एवं 'प्रणय का दर्शन' में परम्परा और वास्तविकता का जो मखौल उन्होंने उड़ाया है, वह समूचे प्रसंग को बौद्धिक खिलवाड़ में बदलता है। शब्द के साथ जितनी छूट नयी कविता के कवियों में भारत जी ने ली, उतनी कोई कवि नहीं ले पाया। गद्य में भी उनके ये प्रयोग बरकरार रहे। *ऊँट पर सवार साढे छह यार* की तारसप्तकीय यात्रा का विवरण जितना सांकेतिक है, उतना ही स्पष्ट है। उसमें सातों कवियों की समस्त विशेषताओं और मन्तव्यों को साफ़-साफ़ पढ़ा जा सकता है। स्थूल विवरण में यह कथा शायद उतनी मनोरंजक और कौतुकपूर्ण नहीं हो पाती। कौतुक तो जैसे हर समय उनकी नस-नस में समाया रहता है—पता नहीं कब दिमाग़ में किसी घटना का ऐसा अर्थ कौंध जाए या वह ऐसा अद्भुत रूप ले ले कि बस विस्मय में डूब जाएँ कि ऐसा तो सोचा भी न था? रेगिस्तान में सौदागर पुत्र के साथ जुड़ती यारों की मंडली तारसप्तक का जीवित इतिहास बन जाती है। गुरुपुत्र, भाटपुत्र, अजनबी अन्वेषक, विलासी नवयुवक और अध्यापक इस यात्रा के जीवित पात्र हैं।

हास्य-व्यंग्य ने भारत जी के निबन्धों में भी महत्त्वपूर्ण कारक का निर्वाह किया

है। व्यंग्य वैसे भी ब्रज संस्कृति और जीवन का अपरिहार्य अंग है और भारत जी की आत्मा में तो यह गहरे तक रचा-बसा है। 'व्यास माने मथुरा' और 'जब समय की सुई रास मंडल पर टिक गयी' इसी संस्कृति के परिचायक निबन्ध हैं, जिनमें तीन लोक से न्यारी मथुरा के कवि मित्र गोपाल प्रसाद व्यास और रासलीला के माहात्म्य अंकित किये गये हैं। इनके अलावा भारत जी ने विद्यार्थीकाल में ही 'आगरा पंच' अख़बार में कई उपनामों से 'पंच-प्रपच' कॉलम और व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ लिखीं, जिनमें समकालीन नागरिक सुविधाओं के अभाव—एवं अन्य छिटपुट समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया गया था। होली-दिवाली जैसे त्यौहारों पर तो उनकी लेखनी रुक ही नहीं पाती। दसवीं की छमाही परीक्षा में *विभुबन्धु* उपनाम से लिखे लेख के बाद जितने उपनाम भारत जी ने धारण किये, वह अलग से खोज का विषय हो सकता है। अललटप्पू, टाँय-टाँय और फिस्स, कारकार चवालिससो, कलमतोड़ लिक्खाड़, एक गोकुलपुरिया, टनटनानन्द, घुक्कड़राम, मिया कुकडूँ कूँ, कनवैसिंग, बाबा बालटीदास, कवि कपीश घोंचू, एक हुरियास, एक चिड़ीमार, तीसमार ख़ाँ, पिचकारीमल गुलालका श्री अरररररधड़ाम, गोबर गणेश, ब्रज और अर्द्धचन्द्र उपनामों की शृंखला यही सिद्ध करती है कि व्यंग्य के क्षेत्र में उनकी कल्पना कितनी उर्वर थी। होलिका शब्दकोष या हो लिया दीक्षान्त समारोह, किसी का शीर्षक किसी के सिर का हल्का-फुल्का व्यंग्य स्वस्थ-मनोरंजक होने के साथ विसंगति के प्रति गम्भीर विनोद से रहित नहीं था—साथ ही परिवर्तन की कामना भी उसमें निहित थी।

आलोचना

कविता जिस तरह क्षणिक आवेग और उत्तेजना में लिखी जा सकती है, आलोचना नहीं। समीक्षा और आलोचना में एक व्यवस्था एवं वैचारिक अनुशासन रहता ही है, उससे सहमति-असहमति अलग बात है। रचनाकार प्रायः अपने संग्रहों की भूमिकाओं, बहसों, अपने दौर की रचनाशीलता पर होनेवाले आरोप-प्रत्यारोपों के रूप में अपनी वैचारिकता और दृष्टि को सामने लाता रहता है। कई बार उसे यह काम आपद्धर्म के रूप में और कभी व्यवस्थित रूप से करना पड़ता है, जब *बात बोलेगी—हम नहीं*—अपर्याप्त रहता है। भारत भूषण अग्रवाल ने भी व्यवस्थित रूप से आलोचना नहीं लिखी है। भूमिकाओं और वक्तव्यों के अलावा तात्कालिक तकाजों या सम्बन्धों के निर्वाह के तहत ही उन्होंने पुस्तक समीक्षा, आलोचना और हस्तक्षेप के रूप में बहसतलब टिप्पणियाँ लिखी हैं। जाहिर है इस प्रक्रिया में कोई तारतम्य नहीं हो सकता है। यों भी प्राध्यापकीय आलोचना से उन्हें चिढ़ थी। प्रगतिवादी आलोचना भी उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर पाती थी। साहित्य और जीवन के सन्दर्भ में

ही उन्हें आलोचना की ज़रूरत महसूस होती थी—जिनके बीच दूरी निरन्तर बढ़ती जाती है। यही उनकी आलोचना से निराशा का कारण था कि जो काम उसे करना चाहिए था, वह कर नहीं पा रही थी। इस विडम्बना में उन्हें लगता था कि 'कवि की ट्रैजेडी यह है कि वह ज़िन्दगी को कविता के पैमाने से समझना चाहता है और नाकामयाब होता है।'' आलोचक की ट्रैजेडी यह है कि वह कविता को ज़िन्दगी के पैमाने से समझना चाहता है और नाकामयाब होता है। (*रचनावली खण्ड* चार, पृ. 494) वे दोनों संसारों के आपसी सम्बन्धों की सार्थकता की खोज करना चाहते थे।

कवि की यह खोज परम्परा के साथ अपनी और बाद तक की पीढ़ी के लिए भी थी। इस पहचान के क्रम में कवि ने पूर्ववर्ती, समकालीन और युवा पीढ़ी के सृजन के प्रति जिस आलोचनात्मक विवेक को विकसित किया, उसी में कहीं अपनी पहचान भी थी। इस पहचान में आलोचना के कुछ ऐसे मौलिक सूत्र भी विद्यमान थे, जो निष्पक्ष थे। काव्य अभ्यासी और सजग पाठक के इस साक्ष्य का अपना महत्त्व है—भले इसे जाँच-परख की कोटि में न रखा जाए। वैसे भी 'कवि कविता को भीतर से बाहर की ओर देखता है और आलोचक उसे बाहर से भीतर की ओर। इसलिए किसी एक से काम नहीं चलता। ख़ासकर ऐसे मामले में जब आलोचक की यह ग्रहण क्षमता रूढ़-कुन्द और अतीतजीवी हो जाए। तब कवि ही ख़ुद अपनी और काव्यधारा की प्रतिष्ठा में खुलकर सामने आने को बाध्य होते हैं। छायावादी-प्रयोगवादी कवियों को इसीलिए अपनी काव्यधारा की सबसे ज़्यादा वकालत और बचाव करना पड़ा। कविता को ही कवि का परम वक्तव्य मानने वाले अज्ञेय को सबसे ज़्यादा सफ़ाइयाँ देनी पड़ीं।

कवि होने के नाते भारत भूषण अग्रवाल ने कविता को लेकर ही चिन्तन-मनन अधिक किया है। अपने संग्रहों की भूमिकाओं और वक्तव्यों में भी वे अपनी दृष्टि के साथ समकालीन परिवेश और सृजन के प्रति बेहद सजग रचनाकार के रूप में सक्रिय नज़र आते हैं। नयी कविता को लेकर उनके मन में कोई संकीर्ण पूर्वग्रह नहीं थे। अलबत्ता नयी कविता के प्रवर्तन का श्रेय केवल अज्ञेय को देने से वे असहमत रहे—और उन्होंने इसके विरोध में लिखित आपत्ति दर्ज की। वह ऐसी कविता के पक्षधर रहे जो 'अतीत में उलझी न हो, वादों से ग्रस्त न हो, भविष्य के किन्हीं पूर्वकल्पित खाँचों में मानव को फ़िट करने की कोशिश न करती हो। वरन् जो मानव मुक्ति की हामी हो, समाज को अन्ध-राष्ट्रीयता से, व्यक्ति को सामाजिक शोषण से और मन को संकीर्ण स्वार्थों से मुक्ति दे सके।' (*रचनावली*, खण्ड चार, पृ. 77)। क्या यह हृदय की मुक्तावस्था का ही विस्तार नहीं है? सृजन प्रक्रिया में वे बाह्य हस्तक्षेप के विरोधी थे। इसीलिए बाद में उन्होंने प्रगतिवाद का प्रसंग आने पर अक्सर उसकी यांत्रिक वैचारिकता का विरोध किया। यह जैसे उनका बुनियादी अन्तर्विरोध

था—ख़ुद को खुलकर कम्युनिस्ट घोषित करने के बाद। सृजन की प्रच्छन्न प्रक्रिया में उनका आग्रह था कि 'लेखक उसके सम्बन्ध में जितना ही अचेत और अनभिज्ञ रहे, उतना ही शुभ है। जीवन को देखने, समझने और फिर चित्रित करने में उसकी दृष्टि यदि सम्पूर्ण समर्पण पर रहे, तभी उसकी रचना गहरी और सच्ची होती है। ...इसके विपरीत यदि हम अपनी रचना को इस या उस मान्यता का प्रमाण या प्रचार बनाने की ओर प्रवृत्त होंगे तो उसका रस घट जाएगा और उसी अनुपात में वह साहित्य की कसौटी पर असफल हो जाएगा' (पृ. 165-66)। प्रगतिवादी काव्य स्पष्ट और स्थूल जीवन दर्शन की वजह से ही उद्‌बोधन और उपदेश का ऐसा काव्य बनकर रह गया 'जिसका अधिकांश कोई गहरा प्रभाव नहीं रखता।' यही दुर्घटना स्वच्छन्दतावाद के साथ हुई। इन्हीं कारणों से 'प्रगतिवादी साम्यवादी नारेबाज़ी के शंखनाद का अनुगमन करता हुआ भावहीन मरु की बालू में लुप्त हो गया और स्वच्छन्दतावाद अधकचरी अतिभावुकता के कारण कवि-सम्मेलनों के मंच से होता हुआ फ़िल्म जगत का शरणार्थी बन गया।' (पृ. 71) उनके सुफल विरल ही रहे। भारत भूषण अग्रवाल ने इन्हीं दुर्घटनाओं के साक्ष्य से भारतीयता के नाम पर पुष्पित-पल्लवित संकीर्ण राष्ट्रीयता का धुँधला भविष्य भी पहचान लिया था। शाब्दिक पच्चीकारी और अलंकरण से युक्त थोथा शिल्प उन्हें कविता के नाम पर नहीं जँचा।

कविता समय के अनुसार बदलती रहती है। भारत जी इस परिवर्तन को वास्तविक रूप में पकड़ने के हामी थे। मुक्ति का तात्पर्य अराजकता वैसे भी नहीं हो सकता। विस्मय, खीझ एवं पूर्वाग्रह की बजाय वे ऐसे धैर्य से इस बदलाव को देखने के पक्षधर थे कि उसे भीतर गहरे रूप में पहचान सकें। इसी पहचान के कारण उन्हें दार्शनिकता के खोल के बावजूद पंत छायावादियों में सबसे कम टिकाऊ, दिनकर उत्तेजनात्मक और बच्चन एकान्त रूप से आत्मबद्ध और हताशापरक लगते थे और नयी कविता की दुरूहता और अनास्था साधारण पाठक के अर्थबोध में बाधक। कवि-कर्म के बदलने से काव्य से माँग भी इसी तर्क से बदलने लगती है। परंपरा ओर आधुनिकता का यही द्वन्द्व सही बोध और विवेक की अनिवार्य शर्त है। इसी कारण भारत जी को अज्ञेय की अपेक्षा मुक्तिबोध और उनकी कविता ज़्यादा प्रासंगिक लगती थी। उस दौर में ऐसा कहने का साहस करनेवाले कम रचनाकार थे।

पूर्ववर्ती काव्य परम्परा से सम्बन्ध निर्धारित किए बिना आत्म परिचय भी पूरा नहीं हो पाता। भारत भूषण अग्रवाल के सम्बन्ध में यह कुछ अजीब लग सकता है कि उनकी कविता और आलोचनात्मक वैचारिकता में छायावाद की अपेक्षा मैथिलीशरण गुप्त का योगदान और प्रभाव कुछ अधिक ही है। प्रगतिवादी आकर्षण

भी बाद में पश्चात्ताप का कारण सिद्ध हुआ, जिससे जानबूझकर-इरादतन कवि को पीछा छुड़ाना पड़ा। उन्हें प्रगतिवाद प्रणय की शक्ति के निषेध का सैनिक काव्य लगा (पृ. 521) और कभी उसकी सोद्देश्यता के घेरे से छूटने की तबीयत करती थी (पृ. 542)। छायावादी रोमांस और प्रणय की गीतात्मकता भी भारत जी की कविता में वह स्थान नहीं ले पायी, जो गुप्त जी की काव्य चेतना का था। गुप्त जी की आधुनिकता ने *अग्निलीक* तक उनका पीछा नहीं छोड़ा। रवीन्द्रनाथ, प्रसाद, पंत, दिनकर और तमाम प्रेम और मस्ती के कवियों के काव्य का अवगाहन उन्होंने किया। बच्चन का हलाहल, विषपायी नवीन का देशप्रेम, *उर्वशी* का कामाध्यात्म, 'उन्मुक्त' की युद्ध विरोधी समन्वित दृष्टि कवि को आकर्षित करती थी, लेकिन वे तलाश में अपने ही रास्ते की थे। इसीलिए नयी कविता के रूप विधान और वस्तु तत्त्व, मध्यवर्गीय अंतर्विरोधों, पीढ़ियों के टकराव, विदेशी प्रभाव, स्वातंत्र्य-चेतना, काव्यानुशासन और परिदृश्य, उनकी चिन्ता के प्रमुख एवं अनुभूत विषय थे, जिन पर साधिकार कुछ कहने की स्थिति में वे थे। नयी कविता पर विदेशी फ़ैशन की नक़ल की बात वे सह नहीं पाते। उनकी दृष्टि में बापू और रवीन्द्रनाथ के तर्क के साथ भारतीय पद्धति अथवा पदार्थ में न होकर दृष्टिकोण में थी। जीवन में समायी विदेशी पद्धतियों और पदार्थों को अछूत मानकर संकीर्ण राष्ट्रवाद की वकालत करने की बुद्धिहीनता का प्रदर्शन वे नहीं कर सकते थे। भले ही विभाजित स्वतंत्रता उनके गले नहीं उतर पाती थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के विजयोल्लास की तुलना *गोदान*—के ताड़ी पिये और झूमते हुए गिरधर के कृत्रिम नशे से करके, भारत जी ने अपने आदर्श और आदर्श के नायक की हत्या का प्रत्यक्ष बयान किया था। इस ढुलमुल समझौते को वे आज़ादी का नाम अन्त तक नहीं दे पाये। यह घटना दुःस्वप्न की तरह उनका पीछा करती थी और कहीं खुद उनकी निरर्थकता के बोध को तीखा करती थी। उच्चतर अध्ययन संस्थान में काम करते हुए वे विभाजन की समस्या की तह में जाना चाहते थे। जहाँ 'हमारी भाषा भी हमारी नहीं है और जो नौकरशाही साम्राज्यवाद का अस्त्र थी, वह ज्यों-की-त्यों बनी है ? वह इस देश से लगाव महसूस नहीं कर पाते थे। विभाजित व्यक्तित्त्व का यह एक बड़ा कारण था। सिरदर्द से छुटकारा पाने को सिर कटवा लेने का भोला तर्क उनके मोहभंग को रोक नहीं सकता था।

भारत जी साठ के बाद की कविता में अतीत के मोहभंग के स्वर का उत्साह के साथ स्वागत करते हैं। रघुवीर सहाय, धूमिल, सर्वेश्वर, साही जैसे तमाम युवतर कवियों की कविता का समकालीन यथार्थ का साक्ष्य उन्हें आकर्षित करता है। एक वरिष्ठ कवि का यह खुलापन दुर्लभ था, जहाँ नेतृत्व हथियाने या पीछे बुलाने की चालाकी नहीं थी। थी तो यही पहचान कि कविता अपने समय से मुठभेड़ में समर्थ हो रही है। उन्हें मालूम था कि 'महाकवि रोज़ नहीं जनमते' किन्तु धूमिल में उन्हें

जो सम्भावना दिखती है, वह इस आशा से कम नहीं। युवा कविता के प्रति सहानुभूति और प्रोत्साहन का यही भाव भारत जी को युवतम पीढ़ी से संवादोन्मुख बनाये रहा। अपने प्रश्नों को लेकर उन्होंने खुलेपन से वरिष्ठ कवियों को भी घेरा। इसी दायित्व से उन्होंने पूरी निष्ठा और ईमानदारी से समकालीन परिदृश्य में आवश्यक आलोचनात्मक हस्तक्षेप किया। मुक्तिबोध और उनके काव्य के बारे में जो कुछ उन्होंने लिखा, वह ऐसा है जो और कोई नहीं लिख सकता था।

कविता के अलावा भारत भूषण अग्रवाल की रुचि कथा-साहित्य में थी। *प्रेमचंद-परवर्ती हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य उपन्यास का प्रभाव* नामक शोध ग्रन्थ में उन्होंने जो निष्कर्ष दिए वे काफ़ी महत्त्वपूर्ण हैं। जैनेन्द्र कुमार की मनोविश्लेषणवादी धारा और अन्य महत्त्वपूर्ण कथाकारों की आधुनिक पाश्चात्य शैली का सोदाहरण विवेचन, हिन्दी के पाठकों के लिए ऐसा आधार तैयार करना था, जिससे वे साहित्य के साथ जीवन-दृष्टि एवं शैली के पारस्परिक सम्बन्ध और जटिल आदान-प्रदान की प्रक्रिया को गम्भीरता से समझ सकें। रोमां रोलाँ के *ज्याँ क्रिस्तोफ* तथा अज्ञेय के *शेखर एक जीवनी* की तुलना और प्रभाव का विश्लेषण इस दिशा में एक व्यावहारिक विवेचन है। जोला की प्रकृतवादी शैली का समाजवादी दृष्टि से समर्थन करके भारत जी ने, उन्हें पतनोन्मुख ठहराने वाले प्रगतिशील समीक्षकों की भर्त्सना को अमान्य सिद्ध किया था।

इसी सन्तुलित दृष्टि के कारण भारत जी जहाँ शरत् की मानवीय करुणा को पहचान सके, वहाँ गोर्की के हिन्दी साहित्य पर पड़नेवाले प्रभाव-महत्त्व से पाठकों को परिचित करा सके। गोर्की और प्रेमचंद की तुलना करके उन्होंने हिन्दी कथा सम्राट के असाधारण महत्त्व को ही रेखांकित किया, जिस पर चलकर आगे अनेक बृहद् अध्ययन सम्भव हुए। उपन्यासों की श्रेष्ठता के मानकों के सन्दर्भ में तो भारत जी की मूल्यांकन दृष्टि का लोहा मानना पड़ेगा। तमाम महत्त्वपूर्ण कृतियों और कृतिकारों के बीच के सर्वेक्षणों में यह *पथ बन्धु था* और *धरती धन न अपना* की प्रतिष्ठा आज भी उनकी अचूक आलोचना दृष्टि का परिचय देती है। *तमस, अमृत और विष* तथा *टेढ़े मेढ़े रास्ते* उपन्यासों और रांगेय राघव के औपन्यासिक व्यक्तित्व का विश्लेषण उनकी परख का प्रतिमान है। जैनेन्द्र उपन्यासकार के रूप में सदैव उनके सामने चुनौती की तरह उपस्थित होते रहे। उनके उपन्यासों में पुरुष के रूप में पति की असफलता कि वह पढ़ी-लिखी नारी को बर्दाश्त नहीं कर पाता कि उसके बाल मन में एक घरेलू टाइप की चुलबुली लड़की बसी हुई है—निरीह—जिसकी कोई माँग नहीं है, जिसको सिर्फ़ एक अवलंब, एक शरणस्थल चाहिए, सही और संवेदनशील बिन्दु पर उँगली रख देना है। पुरुष का यह सामन्तवाद भारत जी कभी और कहीं बर्दाश्त नहीं कर पाये, फिर रचना में ही वे उसके समर्थक कैसे हो सकते थे ?

संस्मरण

संस्मरणों में लेखक निकटस्थ व्यक्ति के व्यक्तित्व की विशेषताओं के साथ खुद को भी खोलता है। यही स्थिति व्यक्ति विशेष से जुड़ी घटनाओं में होती है। भारत जी जिस दिलचस्पी और रुचि से किसी घटना को एक ख़ास कोण से दिखाते हैं, उसी प्रकार व्यक्ति को भी। उनके कुछ संस्मरण तो केवल सम्पादकीय औपचारिकता का निर्वाह हैं—जैसे 'समाज सेवक' में श्रद्धांजलि के रूप में जमनालाल बजाज पर लिखा संस्मरण। उसमें चूंकि सीधे लेखक जुड़ा हुआ नहीं है, अतः सृजनात्मकता लगभग ग़ायब है। यही स्थिति बेढब जी और रजनी पणिकर वाले स्मरणों की है। लेकिन जहाँ लेखक का जुड़ाव गहरा है, वहाँ बात ही कुछ और है—ख़ासकर रांगेय राघव, गोपाल प्रसाद व्यास और मुक्तिबोध के संस्मरणों में। डॉ. नगेन्द्र के व्यक्तित्व की बजाय कृतित्व पर लिखते हुए भी यह लगता है कि जैसे कहीं—कुछ मजबूरी या दायित्व के निर्वाह भर के लिए लिखा जा रहा है।

संस्मरणों में बड़े-छोटे व्यक्ति के अनुरूप लेखक की शैली बदलती है। बाबू गुलाब राय, डॉ. बरुआ के बारे में लिखते हुए भारत जी एक सम्भ्रमशील मर्यादा का निर्वाह करते हैं। जबकि समवयस्कों पर लिखते हुए वे अपने असली रंग में दिखाई देते हैं। मुक्तिबोध की याद में किया गया आडम्बर तो उन्हें आक्रोश से भर देता है कि 'जिस व्यक्ति ने साहित्य में नयी सड़क बनाने के लिए मिट्टी काटना और रोड़े पीटना तक स्वीकार किया हो, उसकी याद गद्देदार कुर्सियों पर बैठकर की जाए और मुक्तिबोध की भी हालत वही कर दी जाए जो तीन चार सौ साल पहले सनातनी पंडितों ने क्रांतिकारी कवि तुलसीदास की कर दी थी (*रचनावली*, खंड चार, पृ. 276)। सचमुच मुक्तिबोध की याद में वैभव की बजाय सादगी ही होनी चाहिए। इससे भारत जी के वैचारिक जुड़ाव और आत्मीयता का पता चलता है। यही तकलीफ़ उन्हें रांगेय राघव के निधन से होती है। यह पीड़ा भारत जी को जीवन भर सालती रही कि प्रतिभा के अनुरूप रांगेय राघव को हिन्दी जगत से सम्मान नहीं मिला—उल्टे तौलकर लिखनेवाले का अपवाद ज़रूर उन पर चिपका दिया गया। किसी ने उसके पीछे के कारणों की तह में जाने की कोशिश नहीं की और उनके जी-तोड़ श्रम को हँसी में उड़ा दिया गया।

देवीशंकर अवस्थी के असामयिक निधन से भी उन्हें उतनी ही पीड़ा हुई थी। दिल्ली की निर्मम साहित्यिक संलापहीन दुनिया उन्हें कभी रास नहीं आयी। उन्हें ठीक ही लगता था कि 'धीरे-धीरे दिल्ली में साहित्य कर्म एक उद्योग की शक्ल लेता जा रहा है। कुछ-कुछ उसी तरह जिस तरह बम्बई का फ़िल्म-व्यवसाय। फलस्वरूप दिल्ली के साहित्य जगत में एक धुरीहीनता, एक अवसरवादिता, एक सुविधा-समझौते की

भावना अनिंदनीय मानी जाने लगी है' (पृ. 279)। आज तो हालात और भी बदतर हैं।

गोपाल प्रसाद व्यास का संस्मरण चूंकि उनके अभिनन्दन-ग्रन्थ हेतु लिखा गया है, अतः उसका स्वर विनोदपूर्ण है। बालसखा का अभिनन्दन इसी शैली में हो सकता है। ऐसा लिखने का अधिकार मित्रों को ही होता है, जिसका बुरा मानने का सवाल ही नहीं। 'व्यास माने मथुरा' से मिलाकर पढ़ने से यह चित्र कुछ और भरा-पूरा लगता है। संस्मरणात्मक निबन्धों में भारत जी की यही चुटीली शैली बरकरार रहती है, जिनमें वे ख़ुद को भी हास्य-व्यंग्य का शिकार बनाये बिना नहीं रहते।

पत्र

कोई भी व्यक्ति अपने पत्रों में अनौपचारिक रूप से जितना खुलता है, उतना अन्यत्र नहीं। शायद अन्यत्र, की अपेक्षा वह पत्रों में अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय भी होता है। भारत भूषण अग्रवाल का तमाम समकालीनों से पत्राचार रहा। नेमिचन्द्र जैन को धुरी मानकर चला जाए तो मुक्तिबोध के उनके साथ के पत्राचार से कम महत्त्वपूर्ण पत्राचार उनसे भारत जी का नहीं रहा है। मुक्तिबोध के साथ मालक और नामवर सिंह जी को गुरु जी सम्बोधन की आत्मीयता और गरिमा, अज्ञेय के साथ तल्ख़ी और अजित कुमार तथा अशोक वाजपेयी जैसे युवा कवियों के साथ जो खुलापन भारत जी का रहा है, वह उनके बहुविध व्यक्तित्व की ही विशेषता को प्रकट करता है। इन पत्रों से तत्कालीन साहित्य की गुटबन्दी और राजनीति का भी खुलासा होता है कि 'विलोम दिनकर और मुक्तिबोध में है अज्ञेय और मुक्तिबोध में नहीं।' एक राष्ट्रीय सत्ता का पोषक और चारण—दूसरा सर्वहारा जनता का योद्धा और साथी। ...असल में दिनकर ही नेहरू युग के गायक हैं—पन्त या अज्ञेय नहीं' (*रचनावली*, खण्ड तीन, पृ. 615)। यह वैषम्य और दूर तक भी खिंचता है, और अज्ञेय से भी खुली असहमति-प्रतीक में रूस ओर अमरीका की द्वेष और पक्षपात भरी तुलना-से विस्मय, शोक और क्रोध। राजनीतिक समझ पूरी और साफ़ करने का आग्रह-आवरण और घटाटोप के असंशय से विरक्ति। यही प्रगति से प्रतिक्रिया की ओर अज्ञेय की यात्रा-पतनशील रुझान। गर्व और सन्तोष के बावजूद नेक सलाह—जल्दी में चिढ़कर ऐसी बात छापना आपके संयत व्यक्तित्व के लिए अच्छा नहीं लगा, मुझे शर्म भी लगी। (पृ. 633)। और बात साहित्य से होते हुए व्यक्तिगत खुलासों तक कि 'मैं...एक सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक-वैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं का थर्मामीटर और आंकड़ों का कार्टून बनकर रह जाना पसन्द नहीं करता।' यही अरुचि अनास्था को जन्म देती है, ऐसे में आत्मदया और दूसरों की दया ग्रहण करने की क्षमता नहीं रह जाती। तब शुरू होती है—आत्मभर्त्सना कि 'क्यों नहीं मेरा दर्द तुलसी

का-सा दर्द है, जो तीन शताब्दी तक गूँजता रहे, या छोड़िए तुलसी को, क्यों नहीं वह प्रेमचंद का सा दर्द है, जो फ़िल्मी दुनिया को लात मार दे।' (पृ. 634) नेमिचन्द्र जैन ने मुक्तिबोध और भारत भूषण अग्रवाल दोनों को कम्युनिज्म की ओर आकर्षित किया। एक के लिए जीवन-मरण का प्रश्न बन गया, दूसरे ने पन्द्रह साल भटकन में बिता दिए—उन सिद्धान्तों से 'कभी आँखें ही नहीं मिलाईं'। यह साक्ष्य आत्मवक्तव्य में जितना सपाट है, पत्र में उतने ही भोलेपन के साथ आत्मस्वीकृति।

'दिनमान' के सम्पादक अज्ञेय के साथ भारत जी का पत्राचार केवल भड़ास निकालने भर तक सीमित नहीं है, वरन् भारत-पाक विभाजन के मूल कारण, उनकी योरपीय स्थिति से तुलना और साम्राज्यवादी खेल का खुलासा है, जो आज की स्थिति में भी प्रासंगिक है और आगे भी रहेगा। साम्प्रदायिक आधार पर निर्मित पाकिस्तान को सतही साम्प्रदायिक दृश्य की बजाय उसके असली रूप को पहचानने की बेचैनी ही इसके मूल में है। पाकिस्तान की स्थिति की तुलना प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध के बीच के जर्मनी से करके भारत जी ने जो विश्लेषण किया है, वह बेहद महत्त्वपूर्ण है। मित्र राष्ट्रों द्वारा सोवियत संघ की रोकथाम के लिए शक्तिशाली बनाये गये, वारसाई संधि से असन्तुष्ट जर्मनी ने इस कार्य के लिए मित्र राष्ट्रों से तमाम सुविधाएँ एवं सहूलियतें हासिल कीं। पाकिस्तान ने भी विभाजन के असन्तोष को कश्मीर मुद्दे के रूप में आज तक जीवित रखकर वही परिणाम पश्चिम से हासिल किया हैं। चीन की रोकथाम के लिए बनाये गये पाकिस्तान की पश्चिमोन्मुख धृष्टताएँ एवं हिटलरी तानाशाही का जोम यदा-कदा प्रकट होता रहता है।

इसके विपरीत भारत की स्थिति फ्रांस जैसी। 'प्रजातंत्रीय पर अनिश्चय ग्रसित, पश्चिम का मित्र पर बराबर के मित्र से कुछ कम, जिसकी बात टालने में या जिसकी अवहेलना करने में ज़्यादा सोच-विचार की ज़रूरत नहीं। देश की परिस्थितियाँ प्रायः वैसी ही सरकारी दल राग रंग, निजी स्वार्थ और संशय में फँसा हुआ, विरोधी दल अशक्त और अल्प एवं साम्यवादी दल मूलविहीन। सेवकशाही संकीर्ण दृष्टिवाली और न्यस्त स्वार्थों की पक्षपातिनी।' (पृ. 636) कितना सटीक आकलन है यह, पच्चीस वर्षों के बाद भी पूरा सही। निरर्थक कूटनीतिक प्रयत्न। यही बेचैनी बाद में उपन्यासों के बहाने भारत-विभाजन के दस्तावेज़ी अध्ययन का सबब बनी, जो लालबहादुर शास्त्री जैसी नियति को प्राप्त हुई।

और *तार सप्तक* के दूसरे संस्करण के आत्म-स्वीकार की पृष्ठभूमि, जिसका बार-बार जिक्र खासकर भारत जी के संदर्भ में होता है। मुक्तिबोध को सलाह 'संघर्ष तीव्रतर हो रहा है और कार्य के नये क्षेत्र खुल रहे हैं। यों हम मध्यवर्गीयों को खपना तो है ही, फिर क्यों न भविष्य के लिए खपें। आज वर्ग विभाजन चरम-सीमा पर पहुँच गया है और बहुत जल्दी ही कम्युनिस्टों को बीन-बीनकर निकाल फेंका जाएगा।

पर यदि हम इस संघर्ष में अपना कर्त्तव्य पहचान लें तो जीवन सार्थक बन जाएगा। यह सच है कि सुखी जीवन की धारणाएँ बदलनी होंगी, अगति का मोह छोड़ना पड़ेगा।' (पृ 610)। इससे बढ़कर प्रामाणिक दस्तावेज और क्या होगा—भारत जी के ऊहापोह का। अपने मध्यवर्गीय होने पर शर्म कैसी ? बल्कि उन्हें तो औसत मध्यवर्गीय कवि होने का गर्व था। अमृत राय को उन्होंने साफ़-साफ़ लिखा कि 'मैं ज़मीन तोड़नेवाला नहीं बन सका' और किसी भी रचना को...कभी भी बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं मान पाता' (पृ. 596)। यही विनम्रता और अनावश्यक ग़लतफ़हमी का अभाव उन्हें निरन्तर विकासशील रख सका।

अपनी रचनाओं की ग़लत व्याख्याओं तक की सफ़ाई भारत जी ने पत्रों में दी। *लौटती लहरों की बाँसुरी* को बालकृष्ण राव द्वारा कोरी भावुकता का उपन्यास मानने से वे सहमत नहीं थे। समीक्षाओं की असफलता से इसीलिए उन्हें चिढ़ थी कि इनमें रचनाकार के मन्तव्य की समझ उभरती ही नहीं। इस उपन्यास के मन्तव्य के बारे में उनका दृष्टिकोण साफ़ था कि वे प्रेमकथा कहने की बजाय उसमें आने वाले वर्गभेद के दुष्परिणामों की परिणति प्रकट करना चाहते थे, जिसमें एक महत्त्वाकांक्षी निम्न मध्यवर्गीय युवक का उच्च वर्ग की युवती से कितना ही गहरा एवं निश्छल प्रेम क्यों न हो, वर्गभेद उसे तोड़ देता है (पृ. 597)। आलोचना से न घबराना या ख़ुद को तीसमार खाँ न समझने की वजह से ही वे अपनी असफल रचनाओं को स्वीकार करने से हिचकते नहीं थे। अशोक वाजपेयी को लिखे पत्र में *टूटन* कविता की रचना-प्रक्रिया का जो गहन विश्लेषण उन्होंने किया है, वह इस बात का प्रमाण है कि रचना की कितनी गहरी समझ उन्हें थी। कविता की एक-एक रग और रेशे से वाकिफ़ कवि का रचना में एक human situation और एक intimate experience का artistic expression तक सफल-असफल होते देखना—ज़िम्मेदारी भरा काम है, जिससे भारत जी कभी पीछे नहीं हटे। रचना की ऐसी तमाम व्याख्याओं में उनकी रुचि थी, जो तह तक ले जाती थीं और उसके असली मन्तव्य को प्रकट करती थीं। धर्मवीर भारती को उनके उपन्यास *सूरज का सातवाँ घोड़ा* को *तार सप्तक* प्रसंग से जोड़कर जो व्याख्या भारत जी ने की, वह किस्सा *ऊंट पर सवार साढ़े छह यार* से कम रोचक नहीं है। "सात कवियों में छह प्रगतिशील मरियल घोड़े हैं और सातवें अज्ञेय हैं—जो सपने भेजकर सूरज को दलदल से निकालते हैं। परिमल और प्रगतिशील लेखक संघ के इन सम्बन्धों में प्रगतिवादियों के कठमुल्लेपन पर प्रहार है और 'खाओ—बदन बनाओ' और निष्कर्षवादी कहानियों के हामी माणिक मुल्ला डॉ. रामविलास शर्मा के आंशिक अवतार हैं।" (पृ. 612) की खोज दिलचस्प है।

रचना और रचनाकार को ईमानदारी से समझने-समझाने का भरसक प्रयत्न

भारत भूषण अग्रवाल ने किया। काव्य संग्रहों की भूमिकाओं और आत्मवक्तव्यों की ज़रूरत इसी रूप में थी। अजित कुमार और अशोक वाजपेयी जैसे अपने प्रति सदय कवियों को वे पत्रों में अपनी काव्य प्रेरणा-प्रभावों-मन्तव्यों के बारे में जिस अन्तरंगता से लिखते हैं, वह निरन्तर दुर्लभ होता जा रहा है—साहित्य की दुनिया में। इसी कारण पीढ़ियों की दूरी भारत जी के लिए ग़ायब हो जाती थी। उन्हें कोई झेंप और झिझक यह बताने में नहीं थी कि 'प्रेम-निराशा मेरी कविताओं की मूल प्रेरणाओं में से एक ही है, अकेली नहीं है।' या 'मेरे काव्य पर बच्चन और नरेन्द्र की सर्वाधिक छाप है।' और मुक्तिमार्ग का अर्थ उस निराशा से मुक्ति है। प्रेम पर उन्होंने अक्सर सविस्तार चर्चा की है। अशोक वाजपेयी को अपनी प्रेम कविताओं में आयी तनावहीनता का कारण बताते हुए वे साफ़ कहते हैं कि यह उनकी पीढ़ी का प्रेम के प्रति प्रतिकृत होने का विशेष ढंग हो सकता है कि प्रेम के मामले में उनकी अनुभूति—'उसकी कामना पर ही आधारित है—उसकी तृप्ति नहीं।' क्योंकि उनकी पीढ़ी को प्यार अशरीरी और इकतरफ़ा ही मिला ओर 'अचानक सशरीरी और दुतरफ़ा प्रेम मिल भी गया तो उसकी अभिव्यक्ति 'उर्वशी' जैसी ही होगी' (पृ. 599)। आत्मप्रशंसा की फूहड़ता से भरी।

कहने की ज़रूरत नहीं कि भारत भूषण अग्रवाल में जीवन और साहित्य में ख़ुद को निष्कवच प्रस्तुत करने का साहस था और इसीलिए रचना उनके लिए निरा आत्मप्रकाश थी, जिसे उन्होंने आजीवन क्षमता भर निभाया।

परिशिष्ट-1

संचयन

अपने कवि से

एक

कितनी संकुचित जीर्ण, वृद्धा हो गई आज कवि की भाषा!
कितने प्रत्यावर्तन जीवन में चंचल लहरों के समान
आए, बह गए; काल बुद्‍बुद-सा उठा, मिटा, पर परम्परा—
अभिमुक्त अभी परिवर्तित हुई न परिभाषा
रूप की, व्यक्ति की। नव विचार, नव ज्ञान-रीति,
नित-नित नवीन जीवन के स्वर, प्राचीना
अब भी है वाणी की वाणी। कुछ अनुभव करते प्राण
किन्तु अभिव्यक्ति अन्य ही कुछ देती है उसे गिरा।
इस भाँति आज कवि के अतिशय उत्कट विचार, सुख-दुख-प्रतीति
रह जाते हैं कल्पना-मात्र। सब बन्धन से दुष्कर बन्धन
है शब्दों का, जो नहीं निकट आने देता कवि एवं उसकी आत्मपूर्ति
को जग के भौतिक सत्यों के; छाया के सदृश अर्थहीना
करता है उसकी वाणी को। कैसी विडम्बना! स्थिर साधन
यद्यपि चिर-गतिमय साध्य! देवता बदल गए, बदली न मूर्ति!

दो

कवि! तोड़ो अपना शब्द-जाल, जो आज खोखला, शून्य हुआ
यह है अपने पुरखों की वैभव-भोगमयी कलुषित वाणी,
मदमत्त, विलासिनि! त्याग इसे! बनना है तुझको तो अगुआ
युग का, युग की भूखी, कमज़ोर हड्डियों का, जिनका पानी
है उठा खौल, घिर रहा विश्व पर घटाटोप बादल बनकर।
बज नहीं सकेगा तेरी इस मधु की वंशी पर इनका स्वर
गर्जना-भरा। सड़ गई आज यह गिरा अबल, घिस गई व्यक्ति
छवि-कनक-प्रवालों के जालों में खो बैठी यह आत्म-शक्ति :

युग के मानव के सुख-दुख, आशा-प्रत्याशा का प्रतिनिधित्व
इस के कण्ठ से नहीं सम्भव। यह सदा स्वर्ग-वासिनी रही
अप्सरा बनी। जाने दे इसको स्वर्ग, खोज ले आज मही
अपनी मिट्टी के पुतलों के शब्दों में ही अपना कवित्व;
हमको न ज़रूरत आज देव-वाणी की, हम ख़ुद ढालेंगे
जीवन की भट्ठी में भाषा, जी-चाहा रूप बना लेंगे।

तीन

इस छायामय भाषा ने कर डाला असत्य, अपदार्थ, हीन,
तेरे लघु-जीवन का था जो एकान्त सत्य—तेरे विचार
में केवल जो था सार—वही तेरा प्रेयसि के लिए प्यार।
तू भूल गया, अज्ञान! रूप है मांस, रक्त, मृत्तिकाधीन
शब्दाडम्बर-चक्र में भ्रांत। अप्सरा बना डाली तूने
षोडश-वर्षीया रूपवती वह पढ़ी-लिखी लड़की। पागल!
तू सुनता रहा मधुर नूपुर-ध्वनि यद्यपि बजती थी चप्पल!
तू सोचा किया : भाव-वाचक है तत्त्व-शून्य, जिसको छूने
की भी चेष्टा है व्यर्थ! दूर यों भाग गया तू तीवन से
तू सदा सोचता रहा : 'मुक्त हो जाऊँ जग के बंधन से
उड़कर दिगन्त के पार।' सृष्टि को पाया तूने क्षण-भंगुर
निज दिव्य-दृष्टि से रे! तेरी यह भाषा तो है मात्र-मुकुर,
उस दर्शन का जिसने देखा बस आसमान थोथा-नीला;
नश्वरता से डरकर जिसने देखी न प्रकृति चिर-गतिशीला।

जागते रहो!

डूबता दिन, भीगती-सी शाम
बन्द कर दो कान,
लो विश्राम।

यह तिमिर की शाल
ओढ़ लो वसुधे! न सिकुड़े शीत से यह लाल,
जग का बाल।

वलय की खनकार,
दीप बालो री सुहागिनि! जग उठे गृह-द्वार
बन्दनवार।

किन्तु साथी! देख
हम न सोएँगे, हमारा कार्य है अवशिष्ट
अपनी प्रगति का अब भी अधूरा लेख।
जागरण, चिर जागरण ही है हमारा इष्ट!

लो, क्षितिज के पास—
वह उठा तारा, अरे! वह लाल तारा, नयन का तारा हमारा
सर्वहारा का सहारा
विजय का विश्वास।

पथ-हीन

कौन-सा पथ है?
मार्ग में आकुल-अधीरातुर बटोही यों पुकारा :
'कौन-सा पथ है?'

'महाजन जिस ओर जाएँ'—शास्त्र हुंकारा
'अंतरात्मा ले चले जिस ओर'—बोला न्याय पण्डित
'साथ आओ सर्व-साधारण जनों के'—क्रान्ति-वाणी।

पर महाजन-मार्ग-गमनोचित न सम्बल है, न रथ है,
अन्तरात्मा अनिश्चय-संशय-ग्रसित,
क्रान्ति-गति-अनुसरण-योग्या है न पद-सामर्थ्य।

कौन-सा पथ है?
मार्ग में आकुल-अधीरातुर बटोही यों पुकारा :
'कौन-सा पथ है?'

मैं, और मेरा पिट्ठू

देह से अकेला होकर भी
मैं दो हूँ,
मेरे पेट में पिट्ठू है।

जब मैं दफ़्तर में
साहब की घण्टी पर उठता-बैठता हूँ,
मेरा पिट्ठू
नदी किनारे वंशी बजाता रहता है!
जब मेरी 'नोटिंग' कट-कुटकर 'रि-टाइप' होती है,
तब साप्ताहिक के मुख-पृष्ठ पर
मेरे पिट्ठू की तसवीर छपती है!
शाम को जब मैं
बस के फ़ुट-बोर्ड पर टँगा-टँगा घर आता हूँ
तब मेरा पिट्ठू
चाँदनी की बाँहों में बाँहें डाले
मुग़ल गार्डन में टहलता रहता है!
और जब मैं
बच्चे की दवा के लिए
'आउटडोर वार्ड' की 'क्यू' में खड़ा रहता हूँ
तब मेरा पिट्ठू
कवि-सम्मेलन के मंच पर पुष्प-मालाएँ पहनता होता है।
इन सरगर्मियों से तंग आकर
मैं अपने पिट्ठू से कहता हूँ :
भई, यह ठीक नहीं
एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहतीं,
तो मेरा पिट्ठू हँसकर कहता है :
पर एक जेब में दो क़लमें तो सभी रखते हैं!

तब मैं झल्लाकर आस्तीनें चढ़ाकर
अपने पिट्ठू को ललकारता हूँ—

तो फिर जा, भाग जा, मेरा पिंड छोड़,
मात्र क़लम बनकर रह!
और यह सुनकर वह चुपके से
मेरे सामने गीता की कॉपी रख देता है!

और जब मैं
हिम्मत बाँधकर
आँखें मींचकर मुट्ठियाँ भींचकर
तय करता हूँ कि उसकी देह उसी को दे दूँगा
तब मेरा पिट्ठू
मुझे झकझोरकर
'ऐफ़िशिएन्सी बार' की याद दिला देता है!

एक दीखनेवाली मेरी इस देह में
दो 'मैं' हैं।
एक मैं
और एक मेरा पिट्ठू।
मैं तो, ख़ैर, मामूली-सा क्लर्क हूँ
पर, मेरा पिट्ठू?
वह जीनियस है!

खण्ड हूँ विराट् का!

थे
ऐसे भी दिन थे—
जब मुझे अपना लघु अस्तित्व
किसी विराट् का खण्ड-मात्र लगता था
और जिसमें मिलने को
मैं अनुक्षण विकल था;
मेरी वह विकलता ही
उन दिनों
गीत बन जाती थी!

है
आज यह दिन भी आया है—
जब मुझे रह-रहकर
अपने पुराने गीत
विकल बनाते हैं,
जब मुझे उस पूर्वाग्रह पर
करुणा हो आती है,
जब उस विराट् के
अनुक्षण पास आ रहे भीमकाय चरणों की चाप से
मेरे तन-प्राण तक सिहर-सिहर जाते हैं!

खण्ड हूँ विराट् का—संभव है, सत्य हो
किन्तु नहीं बिन्दु हूँ प्रवाह का
जिसका उद्दिष्ट हो समुद्र में समाना ही
और दूर रहना
मिट जाने के समान हो!

खण्ड भी हूँ तो किसी दर्पण का खण्ड हूँ
अपने लघु अस्तित्व में भी
मैं सार्थक हूँ, पूर्ण हूँ
लाख रहूँ छोटा, पर मुकुर हूँ पूरा ही
और
मेरे अनगढ़, कुरूप चौखटे में बँधी
जीवन की झाँकी जो,
पूरी है, अखण्ड है!

नहीं, नहीं, नहीं—
मेरे प्राणों में अनुक्षण
गूँजा करते हैं ये जो चरण विराट् के
प्रतिपल समीप से समीपतर
एक दिन ये चाहे बन जाएँ
मेरे विकराल काल,
मेरी परिणति ये नहीं है!

खण्ड-खण्ड मिलाकर
वह महादर्पण भी चाहे फिर जुड़ जाए
मेरी लघु लीक किन्तु मिट नहीं पाएगी,
और वह दर्पण भी
उस दिन
होगा बस संग्रह भर
छोटी-छोटी अपने में पूर्ण प्रतिच्छवियों का—
उसमें जगेगा नहीं कोई एक महाकाय प्रतिबिम्ब
लीकें सब लीलकर!

मुझमें विराट् हुआ खण्डित : यह सच भी हो, तो रहे!
खण्डित है जो वह विराट् है
मैं तो सम्पूर्ण हूँ
अखण्ड हूँ।
और मेरी विकलता?
नहीं, वह नहीं है
विराट् के परस की चाहना—
वह उसके आसन्न परस की भीति है!

हम नहीं हैं द्वीप

हम नहीं हैं द्वीप जीवन की नदी के
वरन् जीवन से भरे निर्मल सरोवर!
भले मिट्टी से हुआ निर्माण,
किन्तु मिट्टी है परिधि ही
नहीं हैं मिट्टी हमारे प्राण!
सूर्य की दीपित किरण से
नीर के भावुक मिलन की हम विमल सन्तान!

ठीक है, हम आज चारों ओर सीमा से घिरे हैं
किन्तु हममें जी रही गति की असीमित धार
हममें जी रहा है

सिन्धु की गहराइयों का
मेघ की ऊँचाइयों का प्यार!
हम प्रखर आलोक, गतिमय भावना के पुत्र हैं
हम नहीं हैं रेत के रूखे, अशुभ अम्बार!

हम सरोवर हैं
नहीं हैं धार!
रुद्ध, सीमित, स्थिर बना जीवन हमारा
हर किनारा बन गया व्यवधान!
अब नहीं हममें तरंगित गान
और बन्धन की व्यथा में खो गया अभिमान।
विवश हम अब बह नहीं सकते,
और अपनी ठौर अपने आप ही में बन्द
अपनी बात आपस में किसी से कह नहीं सकते!

आज भी यद्यपि हमारा है अमित उपयोग :
हम अतिथि की प्यास के उपचार,
निकटवर्ती वनस्पति में मीत संवेदन-भरे,
नगर की लघु ज़िन्दगी में मेघ,
गाँव की भोली, सलोनी कामिनी के कलश के वरदान,
मन्द बुझती साँझ में सोपान पर आसीन कवि के आर्द्र
मिलनाह्वान!
पर हमें बेचैन करता यह व्यथा का भाव :
कट चुके हर धार से,
गति से हमारा हो चुका अलगाव!

हम सरोवर हैं
नहीं हैं धार!
यह नहीं है शाप अथवा नियति अपनी,
किन्तु यह तो बस समय की बात
क्षणभंगुर परिस्थिति!
हम नदी के पुत्र हैं, पाषाण-कारा से घिरे!
दूर उसके क्रोड़ से, हम दूर उस स्रोतस्विनी से,

तदपि उसके अंश, हम वंशज उसी के!
हो गए हों हम भले म्रियमाण पर
समवाय के अभियान में मिल
एक होने के लिए आकुल हमारे प्राण!

तुम अगर हो द्वीप
रूखी रेत के बेडौल टीले!
धार की ही गोद में बैठे विषम व्यवधान,
तो भले ही तुम रहो ऊँचे, महान
पर कृपा कर यह न सोचो :
धार की हर लहर जो आती तुम्हारे पास
ठोकती है वह तुम्हारी पीठ
या तुम्हारी कीर्ति में वह छेड़ती है तान!
वह तो है विकल, बेचैन तुमको लांघ जाने के लिए
सहज गति अनिरुद्ध पाने के लिए
धारा बढ़ाने के लिए!
और हम यद्यपि नहीं हैं धार
यद्यपि हैं सरोवर मात्र
किन्तु यह केवल समय की बात!
लौटकर टुक ग्रीष्म आने दो,
किरण का हमको तनिक वरदान पाने दो,
उफ़न जाने दो!
हम अहम् को भूल
मेटकर अपनी बनावट
तोड़ सीमाएँ सभी
एक दिन फिर से मिलेंगे धार में
समवेत जीवन के अपरिमित ज्वार में!

एक उठा हुआ हाथ

(मुक्तिबोध के प्रति)

नाव तो हममें से किसी के पास न थी
और सभी पार जाना चाहते थे
तैरकर।
हक्के-बक्के-से हम सब उथले पानी में
जल-क्रीड़ा करते थे
छींटे उड़ाते थे
और भीतर की खीझ को चुनौती बनाकर कहते थे :
'बोलो,
है कोई माई का लाल
जो इस आँधी-तूफ़ान में निकल जाए?'

कुछ की आँखें पीछे के स्फटिक-पुलिन का टिकी थीं
जहाँ चन्दन-नौकाएँ हाथियों-सी झूम रही थीं
और कुछ चाहते थे
कि पहले संवाददाता और फ़ोटोग्राफ़र आ लें—

तभी पानी में लीक बनी
और हमने विस्मय से देखा :
तुम मँझधार में पहुँच गए हो
जहाँ लहरें फुंकार रही थीं
और भँवर मुँह फाड़ रहे थे।
हमने घबराकर तार-स्वर में तुम्हें पुकारा
पर तूफ़ान के शोर में हमारी पुकार डूब गई
और तुम लहरों से जूझते
लहरों में समा गए!

तूफ़ान अब थम गया है।
हम अब भी उथले जल में किलोलें कर रहे हैं
क्योंकि न नाव है, न फ़ोटोग्राफ़र

पर मुझे अब भी दीख रहा है
वहाँ दूर, मँझधार में लहरों के ऊपर उठा हुआ
पताका-सा तुम्हारा हाथ
तुम्हारी जल-समाधि का निशान!

अद्वितीया

क़लम पर आकर मेरे भाव रुक जाते हैं
लगता है
पहले भी यह गीत कहीं पढ़ा है!
ओठों पर आकर सब शब्द ठिठक जाते हैं
लगता है
यह किसी फ़िल्म का डायलॉग है!
संगीत मुझे नहीं आया
पर अगर चित्र बना पाऊँ
तो वह भी शायद
किसी ठाकुर या कुमार की अनुकृति मालूम दे!

तुम अद्वितीया हो!
तुम्हारा यह प्यार जैसा निश्छल है
वैसा नया भी है!
फिर क्यों मेरी हर अभिव्यक्ति
बासी हुई जाती है?
क्यों मुझे लगता है
कि मैं किसी के जिए गए क्षणों को
मात्र दुहराता हूँ?
तुमने जो दिया है
मैंने जो पाया है
क्या वह पहले कभी भी
किसी अन्य युगल द्वारा
यों ही विनिमयित हुआ?
फिर क्यों मुझे लगता है

कि मेरे हाथों में यह निर्माल्य की थाली नहीं
कोई जूठा दोना है।

मैं बखूबी जानता हूँ
कि तुम्हारी प्रतीक्षा में
मैं जैसे छटपटाता हूँ
पहले नहीं हुआ,
तुम्हारे स्मरण से जैसा झुक जाता हूँ
पहले नहीं झुका,
तुम्हें छूकर मैं जैसा पवित्र लग आता हूँ
पहले नहीं लगा,
जानता हूँ क्योंकि मैं भोक्ता हूँ
मैंने तुम्हें प्यार में, सुधि में, विकलता में
बूँद-बूँद भोगा है!

किन्तु हाय, जब-जब मैं
अपने उस प्यार को, सुधि को, विकलता को
अपने से मुक्त कर मूर्त करने चलता हूँ
तो लगता है कि मैं छल लिया गया हूँ
जहाँ से चला था जैसे वहीं पहुँच गया हूँ
और इस लम्बे रास्ते का हर मोड़,
हर ढाल, हर गर्त
मुझ पर हँस रहा है!
और मेरे पैर चाहे चलते चले जाएँ
मेरा मन बढ़ने से इनकार करता है।
नहीं, मैं फिर नहीं खाऊँगा पछाड़,
जो खा चुका
जो काँटा चुभ चुका, वह क्या फिर चुभेगा?
ठीक वही घाव उसी मर्म पर कैसे सहूँगा
अपने इस अभूतपूर्व टटके मनोभाव को
म्यूज़ियम में रखी कोई मूर्ति
या फ़ैक्टरी से निकला कोई सीलबंद डिब्बा
कैसे बना दूँ?

अरी ओ री अद्वितीया
मेरी प्रिया!
क्या यह सच नहीं है कि मेरे मन का यह अटकाव
तेरी ही लीला है?
मेरे उद्‌गार की यह घिसी-पिटी परिचित सामान्यता
मेरी ही माया का एक आवरण है
जिसमें से छनकर आता हुआ तेरा स्फटिक रूप
मुझे निरन्तर बुलाता है
पर हाथ नहीं लगता है ?

तो फिर अभी और मुझे प्यार दो
हँसी का उजाला दो, अतृप्ति का नीहार दो
डूबने दो मुझे अभी गहरे, और गहरे
इस भाव के समुन्दर में
जाने दो मुझे सब परिचय के पार
इस अपार में
उद्‌घाटित कर दो अपनी तेज़-तीक्ष्ण
निर्मम अनन्यता
अपना यह मायावी लीला-पट विदार दो!
भर दो इन प्राणों में धधकता ताप और
रोमों में स्फुरन और
टूटने दो मुझे अन्-इतिहास की अ-रुँधी
नई राह पर
पैठने दो नीचे, और नीचे इस अतल में
जहाँ इस आसक्ति का स्रोत है
जहाँ मेरी अभिव्यक्ति का
अ-भूत चिरवांछित अपरूप मोती है!

जो लिख चुका

जो लिख चुका
वह सब मिथ्या है
उसे मत गहो!
जो लिखा नहीं गया
घुमड़कर भीतर ही रहा
वही सच है
जो मैं देना चाहता हूँ!
लो, यह दे दिया
सूनी हवा की लहरों पर
दिये-सा सिराकर
तुम्हारा नाम!

वसीयत

भला राख की ढेरी बनकर क्या होगा?
इससे तो अच्छा है
कि जाने के पहले
अपना सब कुछ दान कर जाऊँ।

अपनी आँखें
मैं अपनी स्पेशल के ड्राइवर को दे जाऊँगा।
ताकि वह गाड़ी चलाते समय भी
फुटपाथ पर चलती फुलवारियाँ देख सके

अपने कान
अपने अफ़सर को
कि वे चुग़लियों के शोर में कविता से न वंचित हों

अपना मुँह
नेताजी को
—बेचारे भाषण के मारे अभी भूखे रह जाते हैं

अपने हाथ
श्री चतुर्भुज शास्त्री को
ताकि वे अपना नाम सार्थक कर सकें

अपने पैर
उस अभागे चोर को
जिसके, सुना है, पैर नहीं होते हैं

और अपना दिल
मेरी जान! तुमको
ताकि तुम प्रेम करके भी पतिव्रता बनी रहो!

समाधि-लेख

रस तो अनन्त था, अंजुरी भर ही पिया
जी में वसन्त था, एक फूल ही दिया
मिटने के दिन आज मुझको यह सोच है :
कैसे बड़े युग में कैसा छोटा जीवन जिया!

चीड़-फाड़

एक

जब-जब मैं अपने से बाहर निकला हूँ
लगता है :
मानों कोई शून्य-यात्री
अधर में तैरता—
कहीं कोई टेक नहीं।
नीचे
दूर,
बहुत दूर

एक हरा पिण्ड—
शायद।
और मेरे चारों ओर
एक अपार विस्तार
न-कुछ का—
निश्चित।

अपने में बन्द रहो तो
लगता है :
एक सुरंग है
जिसमें मैं टोहता फिरता हूँ
और जिसके सिरों पर
एक-एक कुआँ है।
अपनी खाल को
मैं किवाड़ की तरह खोलकर
एक कुएँ में उतर जाता हूँ।
सीढ़ियाँ

हारमोनियम के परदों की तरह
चिचियाने लगती हैं।
और नीचे
मेरी एक लम्बोतरी परछाई
जल में।
—या तेल के कढ़ाव में?

अचानक
कुएँ में कहीं से निकलकर
काले-काले यमदूत

अट्टहास करते हुए
मुझे अपने पंजों में जकड़ते हैं
और मुझे वापस ले जाते हैं।

मैं आँखें बन्द करके चीख़ उठता हूँ :
'नहीं, नहीं, वापस नहीं जाऊँगा'

तभी मेरे सिर पर एक शहतीर टूटती है
और मेरे कानों में रौरव भर जाता है।

दो

मैं मान क्यों नहीं लेता कि मैं हार गया हूँ
और वह ज़िन्दगी
जिसे मैं बार-बार
अपनी मुट्ठियों में भरने की कोशिश करता हूँ
मुझसे बहुत बड़ी है!
क्यों मैं रह-रहकर ऐसे कगार पर आ खड़ा होता हूँ,
जहाँ नीचे एक गरजता समुद्र है
और भीतर एक कशमकश
जबकि मैं जानता हूँ मेरे पास कोई विकल्प नहीं है
—न नीचे कूद सकता हूँ
—न ऊपर थिर रह सकता हूँ?

कहीं ऐसा तो नहीं है
कि मेरे बिना ही
तुम मुझे ठेलते-ठेलते यहाँ तक ले जाते हो?
तो फिर यहाँ लाकर
मुझे छोड़ क्यों देते हो?
—एक ही धक्के की तो क़सर है?

तीन

क्या फ़ायदा हुआ दर्जा छह में पढ़ने से
कि कस्तूरी मृग के कुण्डल में बसती है?
मैंने पूरी ज़िन्दगी भटकने में बिताई है।
और अब सब ओर से विफल होकर
जब मैं अपना कुण्डल चीर-फाड़ रहा हूँ
तो वह इस खोखल में मिलती क्यों नहीं?
क्या वह उड़ गई या रिस गई

या कि मुझे बेहोश करके
कोई बहेलिया उसे पहले ही ले जा चुका है!
या
—और इस संभावना से ही मैं चरमराने लगता हूँ—
कहीं ऐसा तो नहीं है
कि मैं कस्तूरी मृग ही नहीं हूँ
और मेरी भटकन और चीर-फाड़
मात्र मेरा दंभ है!!

चार

मुक्ति?
मैंने उसे दिव्यता का पर्याय जाना था।
हर जीर्ण बन्धन मैंने तोड़ दिया
हर नए फन्दे से बच-बचकर चला हूँ
धरती से चार अंगुल ऊपर चला है सदा मेरा यान
एकरथ
किन्तु कहाँ दिव्यता मिली मुझे?
क्या यह मेरा खोखला हाहाकार मुक्ति है?
रेत का यह अन्तहीन विस्तार रस है?

लगता है :
मेरे भीतर कहीं कोई दक्षिणी पण्डित है
तिलक-त्रिपुण्डी, रामनामी ओढ़े, सुमिरनी धरे,
शुचिता के मण्डल में आबद्ध
असवर्णों की छाया तक से बचता हुआ
जो यह जान ही न सका हो—
कौन-से अजनाने निर्णायक क्षण में
उसके व्यवहार में से
धर्म का सार बीत गया है।
बचना नहीं जूझना ही
मुक्ति है
शुचिता है
धर्म है!

पाँच

तुम?
अपने इस एकान्त निजी जाँच-पर्व पर
कछुए की तरह अपने हाथ-पैर समेटकर
जब मैं अपने में स्थित होना चाहता हूँ—
तुम क्यों दिख जाते हो?
जाने कब मैंने तुम्हें पराया समझकर
अपने से दूर कर दिया था?
केंचुल-सा देह से उचालकर
खोखल-सा चोंच से बिदारकर
चेहरे-सा नखों से खरोंचकर,
पर आज लगता है
तुमसे छुटकारे के सब प्रयत्न व्यर्थ हैं
और तुम अब भी जहाँ के तहाँ मेरे साथ चिपके हो
छठी उँगुली की तरह जन्म-दत्त किन्तु व्यर्थ
मुझको कुरूप करना ही जानते हो तुम।
टेढ़ी नाक टेढ़ी सही, फिर भी वह नाक है
साँस लेती, गन्ध पाती, माथे को ऊँचा भी उठाती है
—किन्तु छठी उँगली तो निष्प्रयोग बोझ है!
क्या करूँ तुम्हारा मैं?
एक बार होकर तुम अनहुए होना नहीं चाहते
मेरे कर्म, मेरे लाभ, मेरे दान में तुम्हारा कहीं कोई योग नहीं
तो भी तुम्हें ढोता हूँ!

मैंने कब जाना था
कि यह निरी काल्पनिक रेखा
जो खेल-खेल में ही मैंने खड़िया से काढ़ी थी
खाई बन जाएगी?
रेशम-सी पतली यह दूरी फलाँगने के यत्न में
जीवन चुक जाएगा!

छः

मैंने तय किया था कि मैं नहीं होऊँगा
जब तक यह जान न लूँ मुझको क्या होना है
और मैं अपने होने को स्थगित कर
होने के विविध स्वरूप जाँचता रहा।
क्या-क्या नहीं खूँदा है
कहाँ-कहाँ नहीं घूमा
किस-किस से नहीं जूझा
कौन-सा है बियाबान जो नहीं रूँधा है!
भागा हूँ, रपटा हूँ, दौड़ा हूँ, घिसटा हूँ,
पिटा हूँ, रोया हूँ, झींका हूँ, चीख़ा हूँ,
क्या-क्या नहीं तोड़ा मैंने क्या-क्या नहीं फोड़ा है?
कोई भी विकल्प कब जाँचे बिना छोड़ा है?
पर क्या एक पल को भी मुझे यह ज्ञान मिला
मुझको क्या होना है?
कोई प्रकाश नहीं बरसा आसमान से—
भक्त चाहे जो कहें
कोई कुल्हाड़ी नहीं निकली किसी कुएँ से—
नानी की कहानी कुछ भी रहे
कोई संकेत नहीं मिला कभी पण्डितों से—
पोथे सब थोथे थे
और मैं चौकन्ना
विस्फारित आँखों में भरे हुए ज्वलंत प्रश्न
पुरातत्त्व, इतिहास, राजनीति, दर्शन की चरखी में
चक्कर लगाता ही रहा हूँ
कि आज मुझे अचानक ज्ञात हुआ
होने की बात क्या
मैं तो हो चुका हूँ।

सात

दिन भर किसी उखड़े सैलानी की तरह
निर्जीव खंडहरों को भौंचक निहारकर
जब मैं शाम को थककर घर आता हूँ
तो दर्पण के सामने खड़े होते ही
मैं अचम्भे में पड़ जाता हूँ।
अचानक देखता हूँ।
मैं चतुर्भज हो गया हूँ।
मेरे एक हाथ में बच्ची की गुड़िया है
दूसरे में बाढ़-पीड़ितों के लिए दान-पात्र
एक में क़लम, जिसकी स्याही सूख गई है
और चौथे में डमरू अपने भाई की खाल का!
मैं हड़बड़ाकर पटापट डमरू बजाता हूँ
हर डुगडुगाहट पर कमरे की दीवारें
सिमटी चली आती हैं।
मेरा दम घुटने को होता है
तभी दर्पण से निकलकर दो छोटे हाथ
चूड़ियाँ बजाते हुए मुझे घेर लेते हैं
और मैं उनकी गिरफ़्त में बचाव जान
घिसटा चला जाता हूँ ।
दर्पण के भीतर पेंचों से कसे हुए
मिनी-आसमान पर जब नज़र जाती है
तो ठगा रह जाता हूँ।
एक धड़हीन चेहरा मुँह फाड़े खड़ा है
उसके साँस लेते ही मेरे पाँव उखड़ जाते हैं
और तूफ़ान पर सवार मैं उसमें समा जाता हूँ।

आठ

फिर रूपक?
मुझको यह हो क्या गया है?
रूपक के बिना क्या मैं सोच भी न पाऊँगा?
लगता है रूपकों की नगरी में क़ैद मैं

ख़ुद भी एक रूपक बन गया हूँ।
क्या मुझे इससे कभी निजात नहीं मिलेगी?
क्या मैं इन अनगिनत परतों को छीलकर
कभी अपना सच्चा मन देख नहीं पाऊँगा?
बहुरूपिया बने रहना ही क्या मेरी नियति है?
कब तक में प्यार को फूल और रोटी को ख़ुशामद
और क्रान्ति को रेस्तराँ बनाता रहूँगा?
कब तक मैं सुविधा की छत पर चढ़ा
कविता के बाँस से
ज़िन्दगी की कटी पतंग फाँसने का यत्न करता रहूँगा
और फिर घबराकर देखूँगा
कि वह सामने
मिट्टी में खेलते लड़कों के झुण्ड में जा पड़ी है
और वे गुत्थमगुत्था होकर उसकी चिन्दियाँ उड़ाते हैं!

चीर-फाड़

मेरी प्रिय रचना

अपनी रचनाओं में से कोई एक रचना चुनना आसान काम नहीं माना जा सकता, पर जब मुझसे अपनी कोई एक कविता चुनने के लिए कहा गया तो मुझे 'चीर-फाड़' का चुनाव करने में एक पल भी नहीं लगा। उसका कारण सिर्फ़ यही नहीं है कि शायद मेरी सबसे लम्बी कविता है और न यही कि वह मेरी ताज़ा कविताओं में है। उनसे भी बढ़कर बात यह है कि इस कविता में मैं अपने-आपको जितना प्रकट कर सका हूँ, उतना अन्य किसी कविता में नहीं। हो सकता है कि समीक्षक को इसकी अपेक्षा मेरी और कविताएँ अच्छी लगें, या मेरी कुछ और कविताएँ ख़ुद मेरी ही नज़र में किसी-न-किसी विशिष्ट गुण के कारण ज़्यादा अच्छी हो, पर 'चीर-फाड़' में मेरा अपनापन जितने सही और पूरे रूप में प्रकट हुआ है, उतना और किसी कविता में नहीं। इस दृष्टि से 'चीर-फाड़' मेरी अद्वितीय कविता है। वैसी कविता न उसके पहले मैंने कभी लिखी, न उसके बाद ही अब तक लिखी। सच तो यह है कि उसके बाद मैंने गिनती की ही कविताएँ लिखी हैं, क्योंकि उसको लिखने के बाद बहुत दिनों तक मुझे यह लगता रहा कि मुझे जो कुछ कहना है वह मैं इस एक कविता में कह चुका हूँ।

अपनी ओर से ऐसी कविता लिख चुकने के बाद भी मैं कविता या साहित्य के क्षेत्र में कोई कीर्ति या स्थायी स्थान न पा सका—यह बात चाहे कितना ही कष्ट दे, पर है सच।

वस्तुतः यह बात भी उस कविता में मैंने कह दी है और वह भी बड़े मार्मिक रूपक के माध्यम से (कस्तूरी मृगवाली पंक्तियाँ)। सच तो यह है कि 'चीर-फाड़' कविता होने के साथ-साथ मेरा वक्तव्य भी है (अज्ञेय ने कहा भी है कि काव्य ही कवि का चरम वक्तव्य होता है) और इसलिए उसके बारे में अलग से कोई वक्तव्य देना उसकी व्याख्या करने के समान व्यर्थ और अरुचिकर प्रयत्न लगता है। अतएव उसके कथन को उसी रूप में छोड़कर मैं सिर्फ़ उस रचना की पृष्ठभूमि अंकित कर

देना चाहता हूँ।

'चीर-फाड़' का आरम्भ 1 जनवरी, 1967 को हुआ था और उसको वर्तमान रूप 22 नवंबर, 1968 को मिला। इस प्रकार यह कविता लगभग दो वर्षों में लिखी गयी। इस बीच मैंने शायद ही और कोई कविता लिखी हो, जिसका कथ्य इससे मेल खाता हो। जब भी मन में कोई भाव उठा, तभी इसमें कुछ पंक्तियाँ जुड़ गयीं। बीच-बीच में मैं इसे अधूरे रूप में ही बार-बार पढ़ता रहता। यही नहीं, इस अधूरे रूप में ही मैंने इसे कुछ मित्रों को दिखाया भी था और मेरा अनुमान था कि यह काफ़ी लम्बी कविता होगी। पर 22 नवंबर को एक मित्र गोष्ठी में जब अपनी कोई नयी अप्रकाशित कविता सुनाने की बात तय हुई तो मैंने विवश होकर उसे समाप्ति पर पहुँचाया और इसका वर्तमान रूप प्रकट हुआ। तब भी मैं इसे कविता का अस्थायी मसविदा (tantative draft) ही मानता रहा और मैंने मित्रों से कहा भी यह अभी अधूरी है। पर मित्र-गोष्ठी में सुना चुकने के बाद फिर इसमें कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ और यह उसी उपलब्ध रूप में 'आलोचना' में प्रकाशित कर दी गयी। जो हो, इस तरह की अधूरी बनी या महीनों तक बनती जानेवाली और कोई कविता मैंने कभी नहीं लिखी। इसके पहले कविता के संबंध में मेरा व्यवहार यह रहा है कि वह क्षणिक उत्तेजना पर लिखी जाती रही है और एक बार लिख जाने पर उसमें मैं कोई रद्दोबदल नहीं करता। पर यह कविता इस व्यवहार का अपवाद रही है।

जिन दो वर्षों के बीच यह कविता रची गयी, वे वर्ष मेरे निजी जीवन के लिए बड़े ही यातनापूर्ण और विक्षोभकारी वर्ष रहे हैं। साथ ही भारतीय समाज और ज़िन्दगी में भी वे उथल-पुथल के वर्ष रहे हैं। ऐसी दशा में मेरे लिए यह स्वाभाविक था कि मैं अपने भीतर झाँककर देखूँ कि मैं अपने व्यक्तित्व और जीवन को क्या बनाना चाहता था और क्या बना पाया हूँ। फलस्वरूप मुझे घोर निराशा और असंतोष का सामना करना पड़ा। आर्थिक-सामाजिक उलझन, सैद्धांतिक ऊहापोह और निजी आकांक्षाओं के चक्कर में मैं ऐसा फँस गया हूँ कि कोई सार्थकता प्राप्त न कर सका। 'चीर-फाड़' में अपनी इसी नियति का मैंने विश्लेषण किया है। उसके लिए मैंने अपने प्रति एक ऐसी निर्ममता भी अपनायी, जो मैं पहले कभी नहीं कर पाया था। आत्ममोह को तिलांजलि देकर अपने समक्ष उपस्थित यथार्थ को दो टूक ढंग से देखने में मैंने भरसक कोई लाग-लपेट या आनाकानी नहीं की। इसीलिए इस कविता से मुझे विशेष लगाव है और मेरे मन में वह कभी पुरानी नहीं पड़ी है। वरन् मुझे तो लगता है कि मैं मानों अब भी 'चीर-फाड़' में लगा हूँ।

ऊँट पर सवार साढ़े छह यार

(1)

सवेरे सौदागर-पुत्र की आँखें खुलीं। सामने देखा अपार रेगिस्तान है। पहले दिन उसके पिता ने उसे डाँटा था, "इतने बड़े हो गए, पढ़-लिख चुके, अब कुछ काम-धाम से लगो। क्या दिन भर लफ़ंगों के साथ गंजपा खेलते हो और फोहश गीत गाते फिरते हो। हम तुम्हारी उम्र के थे तो..." वग़ैरह-वग़ैरह। सौदागर-पुत्र को पिता की बात ऐसी लगी कि वह चटपट माँ के पास पहुँचा और उसके पैर छूकर बोला, माँ अब तुम मुझे न रोकना। मैं दिसावर जा रहा हूँ, लौटूगा तो ऊँट पर अशर्फ़ियाँ लदवाकर लाऊँगा, नहीं तो नहीं।"

माँ ख़ूब रोई-धोई; चलते समय सौदागर का भी चेहरा उदास हो गया था, पर बेटा धुन का पक्का था, उसी समय चल पड़ा और दिन भर चलते रहने के बाद जहाँ अँधेरा हुआ वहीं एक पेड़ के नीचे भूखा-प्यासा आराम करने लेट गया। एक झपकी से ही रात कट गयी और जब आँखें खुलीं, तब वह नज़ारा कि होश गुम। जिधर देखो उधर ही रेत, कहीं हरियाली नहीं, आँख को कहीं कोई टेक नहीं। न जाने कितना बड़ा है यह रेगिस्तान? न जाने इसके उस पार क्या है, कुछ है भी या नहीं? इसका पार कैसे मिलेगा, मिलेगा भी या नहीं? इन सवालों ने एक साथ उसके मन में उठकर उसे बेचैन कर डाला, वह कह उठा, "आगे गहन अन्धेरा है मन रुक-रुक जाता है एकाकी।" बीच-बीच में सोचता कि माँ-बाप से ऐसी दो-टूक बात न कर आया होता तो मज़े से घर लौटकर कुछ और तरक़ीब निकाली जा सकती थी। पर अब तो दाँव लग चुका था।

वह असमंजस में आँखें फाड़े रेगिस्तान पर टकटकी लगाए बैठा ही था कि अचानक उसकी पीठ पर किसी ने दिलासा का हाथ रखा। मुड़कर देखा तो गुरु-पुत्र!

"अरे! तुम! यहाँ!!" सौदागर-पुत्र ने आश्चर्य और आनन्द से धड़ककर कहा।

"हाँ, मैं! यहाँ!" गुरु-पुत्र बोला, "मन तो करता है, तुम्हारे इतने लगाऊँ कि तबीयत दुरुस्त हो जाए।"

"क्यों, क्यों?" सौदागर-पुत्र ने पूछा।

"अच्छा जी, अब भी क्यों?...भला यह भी कोई बात हुई कि न किसी से कुछ कहा-सुना, न किसी को कुछ बताया और चुपचाप निकल पड़े। भले-आदमी, घरवालों से झगड़ा हुआ था तो हुआ सही, मित्र-मण्डली को कहीं ऐसे चकमा दिया जाता है। वह तो ख़ैर यह हो गयी कि मैं ख़बर सुनते ही तुम्हें खोजने निकल पड़ा, नहीं तो तुम न जाने कहाँ समा जाते।"

गुरु-पुत्र अनाथ था और सौदागर-पुत्र के बल पर ही कूदा करता था। उसके गुम हो जाने से अनाथ को अपनी चिन्ता हो गई थी। पर सौदागर-पुत्र उसके इस पक्ष को न देख सका और अनाथ के शब्दों में अपने लिए सच्चा प्यार उमड़ता पाकर गद्गद् हो गया। बोला, "समा कहाँ जाता। देखते नहीं हो, सामने यह रेगिस्तान। समझ में नहीं आता अब क्या किया जाये!"

अनाथ बोला, "क्या घर लौटने का मन हो रहा है?"

सौदागर-पुत्र ने पहले तो अपने सिर को बड़े ज़ोर का झटका दिया, मानों कहना चाहता हो...हरगिज़ नहीं। पर फिर न जाने क्या सोचकर बोला, "तुम्हारी क्या राय है?"

"मेरी क्या राय होगी।" अनाथ गुरु-पुत्र ने अनुगत के अन्दाज़ में कहा, "मैं तो तुम्हारे साथ हूँ। लौटना चाहो तो लौट चलूँगा, और आगे जाना चाहोगे तो आगे चलूँगा।"

सौदागर-पुत्र को उसके इस कथन से कुछ हिम्मत बँधी। उसे थोड़ा दुख भी हुआ कि वह उसे पहले ही साथ क्यों न ले आया, शहर में ही क्यों छोड़ आया। तभी उसे ध्यान आया कि अगर ऊँट पर अशर्फ़ियाँ लादकर लौटना हुआ तो थोड़ी-बहुत इसे भी देनी पड़ेंगी। पर वह तो बाद की बात है, बाद में देखी जाएगी। अभी तो यह रेगिस्तान पार करना है, और उसके लिए ऐसा एक साथी बड़े काम का है। उसने अनाथ को गले से लगाकर कहा, "अगर यह बात है, तो फिर मुझे क्या डर है। मिलकर जैसे भी बनेगा, यह रेगिस्तान पार लेंगे।"

गुरु-पुत्र को मानों मनचाही मुराद मिल गयी। सौदागर-पुत्र का साथ रहेगा तो फिर भला उसे क्या कष्ट हो सकता है। और उसके बिना तो शहर भी उसके लिए रेगिस्तान है।

रेगिस्तान पार कर लेने की जल्दी में वे आगा-पीछा सोचे बिना ही चल पड़े।

(2)

घड़ी भर ही चले होंगे कि रेगिस्तान आ गया। वे रेत में पहला डग भरने ही वाले थे कि उन्हें ज्ञान हुआ—रेगिस्तान में रास्ता नहीं होता। अपने पिता से सौदागर-पुत्र

ने बचपन में ही जो अजीबोगरीब क़िस्से सुने थे उनसे वह तरह-तरह का कठिनाइयों का ज्ञान पा चुका था। ऊबड़-खाबड़ रास्ता, कच्चा-कंकरीला रास्ता, काँटों-भरा जंगली रास्ता, बटमान डाकू-शेर-जंगली जानवर, अनेक प्रकार के कष्टों की कथा वह सुन चुका था और उनसे जूझने का मन ही मन संकल्प भी कर चुका था, पर ऐसी विपत्ति की उसने पहले कभी कल्पना भी न की थी। चारों तरफ़ रेत ही रेत बिछी है और कहीं किसी रास्ते का कोई निशान नहीं। जिधर जी चाहे चल पड़ो, जहाँ चाहो अपना रास्ता बना लो। पर यह कोई नहीं कह सकता कि वह कहीं निकालेगा भी या नहीं। यह भी नहीं मालूम कि कभी कोई इस रास्ते गया भी है या नहीं। हो सकता है लाखों लोग गए हों, हो सकता है कोई न गया हो। रेत में निशान तो बनते नहीं। पैर रखा तो रेत नीचे बैठ गयी, पैर उठाया तो हवा के एक झपट्टे में रेत ज्यों की त्यों मौजूद। उसने अपने मित्र अनाथ गुरु-पुत्र से पूछा, "किधर चलें?"

गुरु-पुत्र बोला, "तुमने मेरे मुँह की बात छीन ली। मैं भी यही कहनेवाला था—कौन-सा पथ है?"

सौदागर-पुत्र बोला, "मेरा ख़याल है, बिलकुल सीधे चलें तो ठीक रहेगा। सीधा रास्ता छोटा होता है।"

"पर यह कैसे मालूम पड़े कि सीध किधर है? सिवाय अपनी नाक के यहाँ तो और कोई सीध ही नज़र नहीं आती।"

इतना सुनना था कि पहले तो सौदागर-पुत्र और गुरु-पुत्र एक दूसरे का मुँह ताकने लगे, भला यह आवाज़ कहाँ से आई, फिर मुड़कर जो देखा तो सामने भाट-पुत्र। "अरे भट्ट जी आप!" दोनों एक साथ चीत्कार कर उठे।

शहर में सौदागर-पुत्र और भाट-पुत्र अक्सर मिलते-जुलते रहते थे। पर उम्र में कुछ बड़ा होने के कारण भाट-पुत्र उसका मित्र नहीं कहला सकता था। वह उसकी मित्र-मण्डली को दूर से देखकर हँसता रहता था। पर यहाँ अचानक उसे अपने इतने पास पाकर सौदागर-पुत्र खिल उठा, बोला, "भट्ट जी, आप यहाँ क्या करने आए हैं?"

भाट-पुत्र कहने लगा, 'क्या बताएँ, इन बड़े लोगों के चोंचले भी विकट होते हैं। राजकुमारी ने हठ ठानी है कि नख़लिस्तान का पानी पिऊँगी। सो बापू बोले, "बेटा यह कमण्डलू लो और ज़रा किसी नख़लिस्तान से भर लाओ।"

गुरु-पुत्र को मज़ाक़ सूझा, "वाह भट्ट जी वाह ! आप तो ऐसे कह रहे हैं, जैसे नख़लिस्तान पड़ोस के कुएँ का नाम हो कि गए और भर लाए। अरे महाराज, देखते नहीं, चारों तरफ़ रेत ही रेत है, न जाने नख़लिस्तान कहाँ है ? है भी या नहीं?"

सौदागर-पुत्र ने कहा, "ऐसी बात थी भट्ट जी, तो दो-चार चोबदार और एक ऊँट साथ ले आते, सुभीता रहता।"

"तुम सुभीते की कहते हो।" भट्टजी ने अपनी व्यथा सुनाई, "बापू बोले, इस

राजकुमारी का तो दिमाग़ ख़राब है, एक ज़िद पूरी हो जाएगी तो कोई दूसरी ठान लेगी। इसलिए जितनी देर लगे उतना अच्छा। जब तक तुम न लौटोगे, तब तक मैं उसे इसी में अटकाए रहूँगा। इसीलिए मैं अकेला और पैदल ही चल पड़ा हूँ।"

तब सौदागर-पुत्र और गुरु-पुत्र ने अपनी कथा भी कह सुनाई। तय हुआ कि तीनों साथ रहेंगे। और यह तय करके वे फिर रास्ते के सवाल पर आ गए। भाट-पुत्र बोला, "मुझे बाप की एक उक्ति याद आ गयी—'किसने जाना वह रस्ता है, कापालिक हँसता है।' सो भैया, रस्ते की फ़िक्र छोड़ो। और जिधर पैर उठे उधर ही चल पड़ो। मान लो कोई रस्ता मिल भी जाए, पर उस पर पैर न उठा तो क्या कर लोगे?"

भाट-पुत्र की इस परम ज्ञान की उक्ति ने दोनों को निरुत्तर कर दिया और तीनों ने एक साथ रेगिस्तान में पैर डाला।

(3)

"अरे, अरे! तुम लोग कितने अनाड़ी हो। जूते तो उतार लिए होते। भला रेगिस्तान में कोई जूते पहनकर चलता है?"

उसी दिन के तीसरे पहर की बात है। सौदागर-पुत्र, गुरु-पुत्र और भाट-पुत्र रेत में धँसते-निकलते किसी तरह थोड़ी-सी दूरी तय कर पाये थे क़दम-क़दम पर उनके जूते रेत में धँस जाते। उनमें गर्म रेत भर जाती और उनके तलुए उतने ही जलने लगते जितने नंगे पाँव होने पर जलते। उन्होंने कई बार जूते उतारकर रेत झाड़ी और फिर जूते पहनकर आगे बढ़ते रहे। पर यह किसी को न सूझा कि जूते बेकार हैं, उन्हें त्याग देने में ही सुभीता है। वे कभी एक-दूसरे की उछल-कूद पर हँसते, कभी अपनी भूख-प्यास और थकावट पर झींकते, कभी पीछे मुड़कर देखने लगे जाते। अपनी दुर्दशा में वे इतने उलझे हुए थे कि वे उस अजनबी को लक्ष्य ही न कर पाये जो रेत में पसरा बैठा उन्हें अपनी ओर आता देख रहा था। इसीलिए जब उस अजनबी ने उनके हाल पर फ़ब्ती कसते हुए ये वाक्य कहे तो वे तीनों अचकचा गए। उनकी नज़रें एक साथ उस अजनबी पर पड़ीं और उसे अविचलित भाव से वहाँ बैठा देखकर वे बड़े प्रभावित हुए।

पहले गुरु-पुत्र ही आगे बढ़ा। अजनबी के पास जाकर विगलित स्वर में बोला, "आप कौन हैं महाराज! आप तो बड़े पहुँचे हुए मालूम पड़ते हैं।"

अजनबी हँसा, "हो न बुद्धू! मैं तुम्हें पहुँचा हुआ लग रहा हूँ? भले आदमी, अभी पहुँचने की क्या चलाई, अभी तो शुरुआत है।"

"मेरा मतलब यह नहीं था।" गुरुपुत्र बोला, "मुझे आप बड़े ज्ञानी मालूम पड़ते हैं। आपने दूर से ही ताड़ लिया कि हम लोग अनाड़ी हैं।"

"ज्ञान नहीं, अनुभव।" अजनबी बोला, "कुछ दूर तक मैं भी जूते पहने चला था। पर जल्दी ही समझ में आ गया कि जूतों से उल्टे और अड़चन हो रही है। क्या तुम्हें रास्ते में मेरे जूते पड़े नहीं मिले। उनके तले फटे हुए थे।"

अब सौदागर-पुत्र का बोल फूटा, "नहीं महाराज, हमें तो कोई जूते नहीं मिले। शायद आप किसी और रास्ते से आए हों और हम किसी और रास्ते से।"

"हो सकता है।" अजनबी ने स्वीकार किया, "पर आप लोग हैं कौन?"

"यह ठीक नहीं है महाराज।" भाट-पुत्र बोला, "पहले आप अपना परिचय दीजिए।"

"मेरा परिचय ही क्या।" अजनबी बोला, "यों समझ लीजिए कि मैं एक अन्वेषक हूँ। इस रेगिस्तान का अन्वेषण कर रहा हूँ।"

"वाह, तब तो आप हमारे समानधर्मी हैं।" सौदागर-पुत्र ने कहा, "हम भी इस रेगिस्तान का अन्वेषण कर रहे हैं।"

"सो कैसे?" अजनबी ने प्रश्न किया।

इसके उत्तर में भाट-पुत्र ने तीनों की कथा कह सुनाई। सुनकर अजनबी ने पहले तो एक लम्बी 'हूँ' भरी फिर बड़े ज़ोर से सिर हिलाया।

गुरु-पुत्र ने पूछा, "क्या बात है महाराज, आप चुप क्यों रह गए?"

"इसलिए कि आप लोगों का कथन सही नहीं है।" अजनबी ने विचारमग्न होते हुए कहा, "वास्तव में आप मेरे समानधर्मी नहीं हैं। आपके लिए रेगिस्तान केवल एक प्रसंग है, मेरे लिए वह लक्ष्य भी है...और उद्देश्य भी।"

तीनों श्रोता नासमझ की तरह अजनबी का मुँह ताकने लगे।

उन्हें प्रश्न-दृष्टि से अपनी ओर देखते पाकर अजनबी ने अपने कथन का खुलासा किया, "बात दरअसल यह है कि आपके उद्देश्य और लक्ष्य से इस रेगिस्तान का कोई सरोकार नहीं। यह सौदागर-पुत्र इसे पार करके धन कमाना चाहता है। गुरु-पुत्र सौदाकर पुत्र के अनुकरण में ही मगन है, रहा भाट-पुत्र सो उसका कोई इरादा नहीं है कि रेगिस्तान को पार करे। वह तो नख़लिस्तान का आकांक्षी है।"

इस कथन पर सौदागर-पुत्र के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने विस्मय से पूछा, "तो क्या आप रेगिस्तान को पार नहीं जाना चाहते?"

"नहीं।" अजनबी ने जवाब दिया, "रेगिस्तान के पार क्या है, इससे मुझे कोई मतलब नहीं। यह रेगिस्तान क्या है, मैं तो सिर्फ़ इसी का अन्वेषी हूँ।"

"कुछ विस्तार से समझाइए महाराज!" गुरु-पुत्र ने उकसाया।

"बात यह है।" अजनबी कहने लगा, "इस रेगिस्तान के पास ही मेरा गाँव है। लड़कपन से ही इसके बारे में तरह-तरह की बातें सुनता आया हूँ। जब मैं छोटा था, तब यह रेगिस्तान मेरे गाँव से बहुत दूर पर था। पर ज्यों-ज्यों मैं बड़ा होता

गया, त्यों-त्यों यह रेगिस्तान भी फैलता गया।''

''वाह, यह कैसे हो सकता।'' भाट-पुत्र ने टोका, ''कहीं रेगिस्तान भी फैलता है? मैंने तो आज तक ऐसी बात नहीं सुनी।''

''तुमने अभी सुना ही क्या है?'' अजनबी बोला, ''और सुनते भी किससे, तुम्हारे बापू के ज़माने में तो ऐसी घटना हुई ही नहीं। पर मैं जानता हूँ कि जिस तरह नदी में बाढ़ आती है, उसी तरह रेगिस्तान में भी बाढ़ आती है। मेरे देखते-देखते यह रेगिस्तान मीलों लम्बे खेतों को निगलता मेरे गाँव तक आ गया है।''

''तो फिर?'' सौदागर-पुत्र ने पूछा।

''तो मैं इस रेगिस्तान को समझना चाहता हूँ, इसकी प्रकृति का अध्ययन करके यह जानना चाहता हूँ कि यह क्यों बढ़ता है? कैसे बढ़ता है? किस तरफ़ बढ़ता है। और इसका सही-सही पता लगाकर फिर इसकी रोकथाम करना चाहता हूँ, इसे ग़ायब कर देना चाहता हूँ।''

''आपका मतलब है।'' गुरु-पुत्र ने पूछा, ''जहाँ रेगिस्तान है, वहाँ फिर से हरियाली हो सकती है?''

''हाँ, ठीक यही मतलब है। मैंने कहा न, जहाँ तुम खड़े हो, वहाँ पहले हरियाली ही थी, मेरे देखते-देखते ही यहाँ रेगिस्तान ने अपना रूप प्रकट किया है। एक बार इसका रहस्य हाथ आ जाए तो फिर इसे मिटाते देर न लगेगी।''

''पर यह रहस्य हाथ आएगा कैसे?'' सौदागर-पुत्र ने प्रश्न किया।

''इसके निकट रहकर, इसके एक-बार चप्पे का अध्ययन करके। अन्वेषण से ही इसका रहस्य खुलेगा। उसके लिए संक्रमण ज़रूरी है। मैं चारों ओर घूम-घूमकर इस रेगिस्तान को खूँद डालना चाहता हूँ। इसीलिए मैं स्थानान्तरगामी प्रवृत्ति का कायल हूँ।''

''अगर ऐसी बात है तो आप हमारे साथ क्यों न चलें, साथ रहेंगे तो मज़ा ही आएगा और क्या पता एक-दूसरे के काम भी आ सकें।'' गुरु-पुत्र ने प्रस्ताव किया।

''अच्छी बात है, यही सही।'' अजनबी ने तटस्थ भाव से स्वीकार किया।

चारों मित्र जब आगे बढ़े, तब सूरज सामने के क्षितिज पर तमतमा रहा था, जिसके कारण उन्हें आँखों पर हथेलियों की छाया करनी पड़ती थी।

(4)

''वह देखो, वह...भला आदमी न जाने क्या कर रहा है।'' सौदागर-पुत्र के इस कथन पर सबने जो आँखें उठाई तो देखा कि थोड़ी दूर पर एक नवयुवक रेत में आँखें गड़ाए इधर-उधर घूम रहा है, मानों कोई खोई हुई चीज़ खोज रहा हो।

हालाँकि रेतीली ज़मीन पर तेज़ चलना सम्भव न था, फिर भी कुतूहल के कारण उन्होंने भरसक लम्बे डग भरे और लपककर उस नवययुवक के पास जा पहुँचे।

उस नवयुवक का अन्दाज़ ही अनोखा था। घुँघराले बाल अस्त-व्यस्त थे, चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं, पर दाहिने हाथ की अनामिका में हीरे की अँगूठी थी और तन पर रेशमी कुर्ता था। गुरु-पुत्र कुछ कहना ही चाहता था कि भाट-पुत्र ने उसे इशारे से टोक दिया और ख़ुद उसको सम्बोधित करके बोला, "कहो भाई, आप यहाँ कैसे विचरण कर रहे हैं?"

नवयुवक की नज़रें अभी तक नीचे रेत में ही गड़ी थीं। इस वाक्य पर उसने सिर उठाया और बड़े तटस्थ एवं कोमल भाव से इन चारों मित्रों को निहारता रहा। फिर धीमे स्वर में बोला, "आपको कोई आपत्ति है?"

इतना सुनना था कि चारों मित्र खिलखिलाकर हँस पड़े। सौदागर-पुत्र ने हँसते-हँसते ही कहा, "यह रेगिस्तान क्या कुछ कम आपत्ति है, जो हम अपनी आपत्ति और जोड़ें। हम तो आपसे संवेदना व्यक्त कर रहे थे, क्योंकि आप अपनी वेशभूषा से विलासी प्रकृति के व्यक्ति प्रतीत होते हैं, रेगिस्तान में आपकी उपस्थिति स्वाभाविक नहीं लगती।"

नवयुवक ने एक क्षण मानों उसकी बात का मर्म मन में उतारा और फिर कहा, "जी!"

"क्या हम आपकी कुछ मदद कर सकते हैं?" गुरु-पुत्र ने सहमते-सहमते प्रश्न किया।

"शायद नहीं," नवयुवक ने उत्तर दिया, "यह मेरा निजी मामला है।"

"आपका कुछ खो गया है?" इस बार भाट-पुत्र ने सवाल किया।

"जी हाँ," नवयुवक ने संक्षिप्त उत्तर दिया।

"क्या?" सौदागर-पुत्र ने कहा।

"यह!" कहते हुए नवयुवक ने उनकी ओर अपना हाथ बढ़ा दिया। उसकी हथेली पर चूड़ी का एक टुकड़ा चमक रहा था। चूड़ी के उस टुकड़े को देखना था कि अजनबी अन्वेषक ने ऐसा ज़ोरदार ठहाका लगाया कि सब उसकी ओर देखते रह गए। जब अजनबी कुछ प्रकृतिस्थ हुआ तब बोला, "मान गए आपको। मैं सोचता था कि मैं ही सबसे अधिक विचित्र हूँ। अब देखता हूँ कि दुनिया में एक से एक विचित्र प्राणी मौजूद हैं।"

नवयुवक के माथे पर एक तेवर पड़ गया। फिर भी वह संयत स्वर में ही बोला, "इसमें क्या विचित्रता है?"

"जी नहीं, कुछ नहीं। माफ़ करें मुझसे भूल हो गयी," अजनबी ने व्यंग्य किया, "आप रेगिस्तान में चूड़ी का टुकड़ा खोज रहे हैं, यह तो अत्यन्त स्वाभाविक बात

है। शायद रेगिस्तान होता ही इसीलिए है कि उसमें..."

नवयुवक ने अजनबी की बात काटते हुए कहा, "पहले पूरी स्थिति समझिए, तब अपना मन्तव्य प्रचारित कीजिए—बिना सुने-समझे किसी के सम्बन्ध में अपनी राय जाहिर करना आपको शोभा नहीं देता।"

"तो भैया जी, आप पूरी स्थिति समझा दीजिए न।" गुरु-पुत्र ने कहा, "हमने तो पहले ही पूछा था, पर आप ख़ुद ही रहस्य बढ़ाए जा रहे हैं।"

"देखिए बात यह है," नवयुवक ने कहना शुरू किया, "आज सवेरे जब मैं किसी काम में जी बहलाने यों ही अपने कपड़े देख रहा था, तब एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में से एक रेशमी चूड़ी का छोटा-सा टुकड़ा गिरा। आप मानें या मानें, उस चूड़ी के टुकड़े में ऐसा इन्द्रजाल था कि मैं दंग रह गया। दूज-कोर में उस टुकड़े पर मुझे अपनी प्रिया की अनगिनत लज्जित तस्वीरें दिखाई देने लगीं। मैंने वह टुकड़ा हथेली पर रखा और ध्यान-मग्न हो गया। तभी न जाने कहाँ से एक चील उड़ती हुई आई और मेरे हाथ पर झपट्टा मारकर उस टुकड़े को उड़ा ले गई। मैं भौंचक्का-सा देखता रह गया और वह चील इधर रेगिस्तान की तरफ़ निकल आई। भला ऐसे अनमोल टुकड़े को मैं हाथ से कैसे जाने देता। मैं तुरन्त घर से निकल पड़ा और उसे उसे खोजते-खोजते यहाँ आ गया। पर कहीं पता ही नहीं चलता। अब आप ही बताएँ, इसमें कौन-सी विचित्र बात है!"

"सब विचित्र है भैया, सब विचित्र है," अजनबी बोला, "मंत्र-विद्या माया, गण्डा, डोरा—इन्द्रजाल के नाना रूप सुने थे, पर चूड़ी के टुकड़े का इन्द्रजाल से संबंध यह पहली ही बार पता चला। और फिर वह चील भी कम विचित्र न रही होगी, जो उसे झपट्टा मारकर ले गई।"

"अजी यह तो कुछ भी नहीं," गुरु-पुत्र ने कहा, "सबसे विचित्र बात तो यह है कि चूड़ी का टुकड़ा इनकी मुट्ठी में मौजूद है, फिर भी उसकी तलाश किए जा रहे हैं।"

"आपने अभी पूरी बात कहाँ सुनी," नवयुवक ने झुँझलाते हुए कहा, "यह टुकड़ा वह थोड़े ही है। यह तो दूसरी चूड़ी का टुकड़ा है, जिसे मैं पहचान के लिए साथ लाया हूँ।"

"वाह, यह भी एक ही रही," गुरु-पुत्र ने कहा, "जिसमें इन्द्रजाल का असर है, उसकी पहचान के लिए इसकी क्या ज़रूरत? यह तो आपने सबसे विचित्र बात कहीं।"

"पर यह भी तो हो सकता है।" नवयुवक बोला, "कि अब तक उसका इन्द्रजाल ख़त्म हो चुका हो।"

"अगर ऐसा है।" भाट-पुत्र ने कहा, "तो फिर उसके खोजने का प्रयोजन

ही क्या?''

''और अगर ख़त्म न हुआ हो तो?'' नवयुवक ने प्रश्न किया।

''आप तो बड़ी चक्करदार बात करते हैं।'' सौदागर-पुत्र ने कहा, ''किसी जगह टिकते ही नहीं—कभी कुछ, कभी कुछ।''

नवयुवक कुछ कहने ही वाला था कि भाट-पुत्र बोला, ''अब मेरी समझ में आ गया। दोनों हो सम्भावनाएँ हैं, इसलिए पहचान भी ज़रूरी है और खोज भी—क्यों है न यही बात !''

नवयुवक के मुख पर पहली बार मुस्कराहट दिखाई दी, ''बिलकुल ठीक, मैं हर स्थिति के लिए तैयार रहना चाहता हूँ, जिससे चूकना न पड़े।''

''सो तो ठीक है।'' अजनबी बोला, ''पर अगर वह टुकड़ा मिले ही नहीं तो? आप जानते हैं, इतना बड़ा रेगिस्तान...।''

''यह कैसे तो सकता है,'' नवयुवक ने बात काटी, ''जब वह चील उसे इधर ही लेकर आई है तो वह यहीं कहीं होगा। हाँ, खोजने में कमी न होनी चाहिए।''

''ठीक है, ठीक है,'' सौदागर-पुत्र ने तपाक से स्वीकार किया, ''आपकी खोज हमारी खोज से छोटी नहीं है। आइए हम भी आपके साथ हैं।''

(5)

सौदागर-पुत्र, गुरु-पुत्र, भाट-पुत्र, अजनबी अन्वेषक और विलासी नवयुवक—पाँचों के पाँचों आगे बढ़े। वे यद्यपि मित्र हो गए थे, पर सबके मन अपनी-अपनी धुन में रमे थे, इसलिए आपस में बहुत कम बात करते थे। सौदागर-पुत्र दो-चार डग भरकर ही पीछे मुड़कर देखने लगता कि कितना रास्ता तय हो चुका है, गुरु-पुत्र सौदागर-पुत्र के चेहरे पर टकटकी लगाए उसके भावों को पढ़ने की कोशिश करता, भाट-पुत्र कुछ मन्त्रोच्चार करता अपने होंठ चलाता रहता, अजनबी बीच-बीच में चाहे जहाँ बैठकर हाथों से रेत हटाने की कोशिश करने लगता और नवयुवक रह-रहकर आसमान की ओर ताकने लगता कि कहीं कोई उड़ती चील दिखाई पड़ जाये। उनकी मण्डली बड़ी विचित्र थी। वे एक साथ भी चल रहे थे और अलग-अलग भी। सो, उनकी गति बड़ी धीमी थी।

लगभग एक घण्टे बाद पाँचों ने बड़े विस्मय से देखा कि कोई आदमी बाईं ओर से झपटता चला आ रहा है और बराबर 'हाथी-घोड़ा पालकी, जय कन्हैयालाल की!' रटता जा रहा है। पलक मारते ही वह इनके पास आ गया तो पाँचों ने उसका रास्ता छेंक लिया। वह आदमी विलासी नवयुवक से टकराने ही वाला था कि भाट-पुत्र ने उसे जेठ में भरकर कहा, ''ज़रा सँभल कर! ऐसी भी क्या बात है?''

वह आदमी थम तो गया, पर अभी भी उसका दम फूल रहा था। थोड़ी देर में जब उसकी साँस आई तो वह बोला, "आपने मुझे क्यों टोका? आप हैं कौन?"

सौदागर-पुत्र ने आगे बढ़कर कहा, "हम पाँच हैं और आप एक। आपको हमारी बात सुननी पड़ेगी।"

अचानक उस आदमी का भाव बिलकुल बदल गया। बोला, "माफ़ करें, मुझसे भूल हो गई। मैंने आपको गिना न था। आप पाँच हैं तो ठीक है। पंचों की बात सिर-माथे। कहिए क्या चाहते हैं?"

"रेगिस्तान के बारे में कुछ बताइए।" भाट-पुत्र ने कहा।

"रेगिस्तान!" वह आदमी अचरज से कह उठा, "कैसा रेगिस्तान! कहाँ है रेगिस्तान?"

"हम लोग जहाँ खड़े हैं, वह रेगिस्तान नहीं है तो क्या है?" सौदागर-पुत्र ने पलटकर प्रश्न किया।

"और कुछ भी हो, रेगिस्तान नहीं है।" वह आदमी बोला।

"क्यों?" गुरु-पुत्र ने पूछा।

"इसलिए कि भूगोल की जो किताब अभी-अभी सात समुद्र पार से आई है, उसमें लिखा है कि हमारे यहाँ कोई रेगिस्तान नहीं है। इसलिए मैं इसे रेगिस्तान नहीं मान सकता। यह ठीक है कि यहाँ रेत ही रेत है और चारों ओर सुनसान भी है, पर रेगिस्तान की और भी तो विशेषताएँ होती हैं।"

"कैसी विशेषताएँ?" नवयुवक बोला।

"बहस करना चाहते हो!" वह आदमी थोड़ा तेज़ हुआ, "तुमने रेगिस्तान की परिभाषा पढ़ी है?"

"नहीं।" नवयुवक ने सहज भाव से उत्तर दिया।

"तो पढ़ो। मैं रात्रि-कक्षा चलाता हूँ, उसमें आना। मैं तुम्हें अच्छी तरह पढ़ा दूँगा।"

"यह सब तो बाद की बात है।" गुरु-पुत्र ने कहा, "अभी तो आप यह बताइए कि आप जा कहाँ रहे हैं?"

"मैं?" वह आदमी बोला, "मैं गीदड़ों के कराल-रोदन से बचना चाहता हूँ।"

"गीदड़ों का रोदन? हमने तो नहीं सुना।" अन्वेषक बोला, "कहाँ है रोदन?"

"मेरे कान में।" उस आदमी ने जवाब दिया।

पाँचों जने बुद्धुओं की तरह उसे घूरने लगे।

"मैं सच कहता हूँ।" वह आदमी कुछ हतप्रभ होता हुआ बोला, "जिस गाँव में रहता हूँ, वहाँ रोज़ शाम को गीदड़ों का रोदन सुनाई पड़ता है। इसलिए शाम के पहले ही मैं गाँव से भागकर यहाँ आ जाता हूँ।"

"तो फिर ऐसे गाँव में रहने से फ़ायदा?" भाट-पुत्र ने कहा, "इससे तो अच्छा है, तुम हमारे साथ चलो। अगर हमने इस रेगिस्तान को पार कर लिया तो हम एक नया गाँव बसाएँगे, वहाँ गीदड़ नहीं होंगे।"

"बात तो ठीक है।" वह आदमी बोला, "पर मैं ठहरा गाँव का अध्यापक। मेरी रात्रि-पाठशाला कैसे चलेगी?"

"अगर गाँववालों को ज़रूरत होगी तो वे कोई प्रबन्ध कर ही लेंगे और अगर प्रवन्ध नहीं होगा तो समझो उन्हें ज़रूरत ही नहीं है, तुम बेकार सिर खपा रहे हो।" अन्वेषक ने कहा।

अध्यापक को यह तर्क सही लगा और वह भी साथ हो गया।

(6)

जब सूरज डूब गया और रात घिर आई, तब नवयुवक बोला, "बस, अब यहीं रुक जाएँ, आराम कर लिया जाए।"

वैसे सभी लोग थक चुके थे और अँधेरे में चलते रहने की किसी की भी इच्छा न थी, पर कहने का साहस नहीं हो रहा था। नवयुवक की बात पर सब एक साथ बोल पड़े, "बिल्कुल ठीक।"

अँधेरी रात थी, पर आसमान तारों से भरा था। छहों के छहों थककर चूर रेत पर पसरे हुए थे, पर भूख-प्यास के मारे नींद किसी को नहीं आ रही थी। काफ़ी देर तक इधर-उधर करवटें बदलते रहने के बाद गुरु-पुत्र ने सौदागर-पुत्र से कहा, "तुम्हारा क्या ख़याल है? कल हम पार पहुँच जाएँगे!"

"क्या मालूम!" सौदागर-पुत्र बोला।

गुरु-पुत्र ने कहा, "न पहुँच पाए, तब तो बड़ी मुश्किल होगी। मेरा तो भूख के मारे बुरा हाल हो रहा है।"

"बुरा हाल किसका नहीं है?" अन्वेषक ने कहा, "पर हिम्मत छोड़ने से कैसे काम चलेगा!"

"वह देखो, आसमान में चाँद निकला है।" अध्यापक बोल पड़ा, "क्या मालूम, चाँद में भी रेगिस्तान है या नहीं है?"

अन्वेषक ने बात बदली, "चाँद का मुँह टेढ़ा क्यों है?"

भाट-पुत्र न जाने किस तरंग में था। बोला, "घी का लड्डू, टेढ़ा भी भला।"

नवयुवक ने कहा, "मुझे तो यह सारी खोज टेढ़ी खीर लगती है। कहीं ऐसा न हो कि हमारी किस्मत ही टेढ़ी हो जाए।"

गरज यह कि शब्दों से शब्दों की निरर्थक डोर जोड़ते-जोड़ते, अपनी-अपनी तकलीफ़ को छिपाने की बेकार चेष्टा करते-करते वे जैसे-तैसे हारकर निद्रा देवी की गोद में मग्न हो गए।

सवेरे सबसे पहले गुरु-पुत्र को आँखें खुली। सूरज की लाल किरणें उसकी पलकों पर थिरक रही थीं। उसने जम्हाई लेकर उठने की कोशिश की तो उसे पता चला कि उसकी देह ही नहीं है। उसे हाथ-पैर-पीठ-पेट सारे अंग अलग-अलग जान पड़ते थे, उन्हें एक साथ समेटना जैसे वह भूल ही गया था।

तभी सौदागर-पुत्र जागा। गुरु-पुत्र ने उसे उठते देखकर कहा, ''मैं तो आगे नहीं चल पाऊँगा, क्या करूँ?''

''चलना तो है ही,'' सौदागर-पुत्र बोला, ''यहाँ पड़े-पड़े भी तो निस्तार नहीं और लौटना भी सम्भव नहीं लगता।''

भाट-पुत्र पड़ा-पड़ा उनकी बातें सुन रहा था, बोला, ''मैंने बापू से तभी कहा था, एक ऊँट साथ कर दो, पर वे माने ही नहीं।''

नवयुवक का गला प्यास के मारे सूख गया था। बड़ी मुश्किल से बोला, ''उन्होंने कमण्डलु तो दिया था, इसी को भर लाए होते। कुछ तो प्यास बुझती।''

भाट-पुत्र कुछ कहने ही वाला था कि सौदागर-पुत्र ख़ुशी से उछल पड़ा, ''अरे ऊँट! वह देखो ऊँट!''

सब हड़बड़ाकर उठ खड़े हुए। सामने सचमुच एक ऊँट मज़े से जुगाली करता चला जा रहा था।

सौदागर-पुत्र बोला, ''चलो, झपटकर इसे पकड़ लें। इस पर चढ़कर चलेंगे तो रास्ता जल्दी कट जाएगा।''

ये बातें हो ही रही थीं कि ऊँट ख़ुद-ब-ख़ुद उनके पास आकर खड़ा हो गया और अपनी दुम हिलाने लगा।

छहों दोस्त इस विचित्र संयोग से मगन-मन ऊँट पर चढ़ गये। नवयुवक ने पहले कुछ आनाकानी की, क्योंकि ऊँट की पीठ पर से चूड़ी का टुकड़ा शायद नज़र न आए, पर पीछे छूट जाने के डर से आख़िर वह भी सवार हो गया।

कुछ देर के लिए छहों यार अपनी भूख-प्यास और थकान भी भूल गये। ऊँट की पीठ पर बैठकर उन्हें दूर पर रेगिस्तान का सिरा भी नज़र आने लगा। अध्यापक को रात गीदड़ों का रोना सुनाई नहीं दिया था, इसलिए वह भी ख़ुश था। अकेला अन्वेषक ही कुछ गुमसुम था, मानों भीतर-ही-भीतर वह अपने-आपसे जूझ रहा हो।

(7)

दोपहर तक छह यारों की यह मण्डली ऊँट की पीठ पर सवार काफ़ी दूर निकल गयी। दो दिन से किसी ने भी कुछ खाया-पिया न था, इसलिए मन-ही-मन सब बिलबिला रहे थे, पर ऊँट पर सवार होने के कारण उन्हें लगता था कि जल्दी ही नख़लिस्तान पहुँच जाएँगे। इसी आशा के सहारे वे अपने कष्ट भूलने की कोशिश कर रहे थे।

तभी अन्वेषक बोला, "यह ठीक नहीं, ऊँट पर से उतरना चाहिए।"

"क्यों-क्यों?" गुरु-पुत्र बोल उठा। उसे ऊँट की सवारी बड़ी सुखद लग रही थी।

"मैंने पहले ही कहा था, मुझमें और आपमें मूलगत भेद है। आप तो रेगिस्तान के पार जाना चाहते हैं, इसलिए आपके लिए यह सवारी काम की है। पर मैं तो यहीं रहकर रेगिस्तान की पड़ताल करना चाहता हूँ। ऊँट की पीठ से इसकी पड़ताल नहीं हो सकती। मुझे तो आप उतार ही दीजिए।"

नवयुवक ने अन्वेषक का समर्थन किया, "इतनी ऊँचाई से चूड़ी का टुकड़ा भी नहीं खोजा जा सकता।"

यार लोग पसोपेश में पड़ गए। साथ छोड़ने का किसी का मन न था, पर यह समस्या भी विकट थी।

अभी वे सोच-विचार में ही लगे थे कि अन्वेषक ऊँट की पीठ से खिसककर धम्म से धूल में आ गिरा।

सब ऊँट की पीठ से नीचे कूदकर अन्वेषक को सँभालने लगे। उसकी आँखें मूँद गयी थीं और होंठ खुले थे। भूख-प्यास के मारे वह बेदम हो गया था।

सौदागर-पुत्र ने कहा, "जैसे भी हो, कुछ पानी का इन्तज़ाम करना चाहिए।"

सबने मौन सहमति प्रकट की। पर रेगिस्तान में पानी का क्या उपाय था।

गुरु-पुत्र ने कहा, "सिर्फ़ एक ही रास्ता है। ऊँट के पेट में पानी हो सकता है।"

पाँचों यार नासमझ की तरह उसकी ओर देखने लगे।

"अगर अन्वेषक को बचाना है तो हमें इस ऊँट के पेट से पानी निकालना पड़ेगा। हम लोग तो प्यासे मरें और यह मज़े से पार चला जाएगा। यह कहाँ का न्याय है!"

"ठीक है, ठीक है।" सबने एक स्वर में कहा।

पाँचों तेज़ी से ऊँट की तरफ़ बढ़े।

ऊँट चुपचाप खड़ा इनकी ओर ताक रहा था। अचानक उन्हें आक्रामक मुद्रा

में अपनी ओर आते देखकर वह डर गया। अपनी जान पर आफ़त आती जानकर वह घबराकर भाग खड़ा हुआ। पाँचों यारों ने उसका पीछा करने की कोशिश की, पर रेगिस्तान में ऊँट से वे होड़ न ले सके।

(8)

भागते-भागते ऊँट एक नख़लिस्तान में जा पहुँचा। उसने मुड़कर देखा तो उसके सवारों का दूर-दूर तक कोई पता न था। वह सुरक्षित अनुभव कर एक खजूर की छाया में ढील गया और जुगाली करने लगा।

तभी उसके कानों में न जाने कहाँ से आवाज़ आई, "ऐ!"

ऊँट के कान खड़े हो गए। उसने सकपकाकर इधर-उधर देखा, कहीं कोई न था। वह दंग होने ही वाला था कि फिर उसके कानों में आवाज़ आई, "ऐ! इधर-उधर क्या देख रहे हो? मैं तो यहाँ हूँ!"

"कहाँ?" किसी विचित्र शक्ति से ऊँट मानवीय भाषा में बोलने लग गया।

"तुम्हारी पीठ पर। मत समझो कि तुम अपने सवारों से पीछा छुड़ा चुके हो। वे छह पीछे रह गए तो क्या हुआ ? मैं अब भी तुम पर सवार हूँ, और तुम कहीं भी क्यों न जाओ, मैं हरदम तुम पर सवार रहूँगा। मुझसे तुम कभी नहीं बच पाओगे।"

"पर तुम हो कौन?"

"मैं उनका सूक्ष्म-रूप साथी हूँ। यों समझ लो कि वे छह नहीं, साढ़े छह यार थे। वे भले ही उतर गये हों, मैं तुम्हारी पीठ पर हरदम चढ़ा रहूँगा और तुम्हारे कानों में चीख़ मारता रहूँगा।"

"तुम्हारा नाम?"

"मुझे इतिहास कहते हैं।"

हंसों की मौत

लगातार पाँच बार जब अन्धेर नगरी की सेना दुश्मन से हार गयी तब कहीं चौपट राजा की पीनक टूटी। एक ज़ोर की जम्हाई लेकर वे उठ बैठे और कड़ककर बोले, "हमारा मंत्री कहाँ है? बुलाओ उसको!"

जान की ख़ैर मनाता मन्त्री राजा के सामने खड़ा हो गया। राजा ने आँखें चमकाते हुए दहाड़कर कहा, "क्यों जी मन्त्री, तुम तो कहते थे, हमारी सेना अब किसी से नहीं हारेगी। फिर यह क्या हुआ?"

मन्त्री तय नहीं कर पा रहा था कि चुप रहने में ज़्यादा ख़तरा है या बोलने में। इसलिए उसने बीच का मार्ग अपनाते हुए कहा, "जी, जी, बात यह है..."

"कुछ बात नहीं," राजा ने बीच में ही उसकी बात काटकर कहा, "बात सिर्फ़ यह है कि तुम निकम्मे हो।"

"जी, पर मैं थोड़े ही हारा हूँ, हारी तो सेना है।" मन्त्री ने प्रतिवाद करते हुए कहा।

चौपट राजा को इसका कोई जवाब न सूझा। बोले, "तो फिर तुम यहाँ अपना काला मुँह लेकर क्यों खड़े हो? सेना हारी है तो सेना को बुलाओ, मैं उससे बातें करूँगा।"

मन्त्री अचल भाव से खड़ा रहा।

राजा बोले, "तुमने सुना नहीं, मैं क्या कह रहा हूँ? मेरा ग़ुस्सा जानते हो? जाओ, सेना को बुला लाओ।"

मन्त्री फिर भी खड़ा रहा।

"क्यों, क्या बात है? सेना है भी या नहीं?" राजा ने गुस्से में छटपटाते हुए पूछा।

"है तो ज़रूर," मन्त्री ने जवाब दिया, "पर बुलाऊँ कैसे?"

"क्यों, मेरे हुकम से।"

"जी, बात यह है, आपका दरबार काफ़ी बड़ा है, फिर भी सेना के लिए छोटा है। सेना यहाँ नहीं आ सकती।"

"तो फिर जल्दी से बड़ा दरबार बनवाने का इंतजाम करो।" राजा बोले, "हम जल्दी-से-जल्दी सेना से बातें करना चाहते हैं।"

मन्त्री को काटो तो ख़ून नहीं। सेना के लायक़ दरबार बनवाने में तो राज्य का कोष ख़त्म हो जायेगा। वह इसी असमंजस में खड़ा था कि चौबदार ने आगे बढ़कर कहा, "हुज़ूर, जान की अमानत पाऊँ तो अर्ज़ करूँ।"

"कहो, क्या कहना चाहते हो?"

चौबदार बोला, "हुज़ूर, नया दरबार बनवाने में महीनों लग जाएँगे। काम जरा जल्दी का है। अगर सरकार थोड़ी तकलीफ़ मंजूर करके सेना की छावनी में तशरीफ़ ले चलें, तो काम बन जाए।"

चौबदार की बात सुनते ही राजा की बाँछें खिल गयी। मन्त्री से बोले, "तुम निरे अहमक ही रहे। देखो, इसने कितनी आसानी से सारी समस्या हल कर दी। चलो, हमारी सवारी तैयार कराओ। हम सेना का मुआयना करेंगे।"

मन्त्री सिटपिटाकर चला गया।

सेना का मुआयना करने के बाद रात को राजा महलों में पहुँचे तो देखा, रानी उदास लेटी हैं। पाँचवीं बार हार की ख़बर सुनकर वे बेहोश हो गयी थीं।

राजा ने रानी को दिलासा देते हुए कहा, "अभी-अभी सेना का मुआयना करके आ रहा हूँ। कहीं कोई कमी नहीं। हथियार, साज-सामान भी काफ़ी है। सैनिकों में जोश तो ऐसा है कि जान पर खेलने को तैयार हैं। पता नहीं, फिर भी क्यों हार गए?"

"आप तो यों ही बहलाते रहते है," रानी ने कहा, "मुझे तो लगता है, एक न एक दिन राजपाट से हाथ धोना पड़ेगा। ख़ाली जोश से क्या होता है, देह में भी तो दम होना चाहिए।"

"सो तो ठीक है।" राजा बोले, "पर लोगों की देह का मैं क्या कर सकता हूँ। अन्धेरे नगरी के लोग तो होते ही हैं पतले-दुबले। इस पर किसी का क्या बस है?"

"बस क्यों नहीं है?" रानी ने कहा, "आप राजा हैं। क्या आप इतना भी नहीं कर सकते कि आपकी प्रजा पहलवान बने?"

"क्यों नहीं कर सकता ! तुम्हें मालूम है, लोगों की सेहत के ख़याल से ही तो मेरे राज्य में हर चीज़ टके सेर बिकती है? जितना चाहें खायें और तन्दुरुस्ती बनायें। पर इन पर कुछ असर ही नहीं होता।"

रानी ने कहा, "ठीक है, आप जानो आपका काम। पर मैं हज़ार बार कह चुकी हूँ, जब तक लोगों की सेहत नहीं बनेगी, तब तक हम इसी तरह हारते रहेंगे।"

राजा को रानी की बात लग गयी। दूसरे दिन दरबार में आते ही उन्होंने मंत्री

से पूछा, "क्यों जी मंत्री, अन्धेरनगरी के लोग इतने पतले-दुबले क्यों होते हैं?"

"आपके डर के मारे!" मन्त्री के मुँह से निकल पड़ा।

"क्या कहा?" राजा गरजे।

मन्त्री को तारे नज़र आने लगे। फ़ौरन बात बनाकर बोला, "आपके डर के मारे कभी कहने की हिम्मत नहीं पड़ी। बात यह है..."

मन्त्री को सोचने का समय दिये बिना राजा बोले, "हाँ, क्या बात है?"

"लोगों को शुद्ध दूध नहीं मिलता।"

"क्यों?"

"ग्वाले दूध में पानी मिला देते हैं। टके सेर बेचना पड़ता है न!"

"तो मैं हुकुम देता हूँ, सारे ग्वालों को पकड़कर क़ैदख़ाने में डाल दो।"

"तब तो पानी-मिला दूध भी मिलना बन्द हो जायेगा।"

"हाँ, यह तो सही है।" राजा बोले, "तो क्या ऐसा कोई उपाय नहीं जो मिलावट को रोक सके।"

"मैं तो हुकुम दे देकर थक गया।" मन्त्री ने कहा, "पर वे मानते ही नहीं। और मुश्किल यह है कि हमारे पास ऐसा कोई साधन भी नहीं है, जो दूध में पानी की मिलावट को बता सके।"

"यानी," राजा गरम हुए, "ग्वाले दूध में पानी मिलाते रहें और तुम हाथ पर हाथ धरे बैठे रहो। कैसे मन्त्री हो?"

मन्त्री ने सुस्त होकर कहा, "क्या करूँ, कोई उपाय ही नहीं है।"

"उपाय ज़रूर होगा?" राजा बोले, "यों कहो, तुम में अक़्ल नहीं है।" फिर मुड़कर पुकारा, "चौबदार!"

चौबदार आकर खड़ा हो गया।

"तुम बताओ इसका उपाय।"

चौबदार ने बनावटी सादगी से कहा, "जी, इसका उपाय तो बड़ा आसान है। सब जानते हैं, हंस ऐसा पक्षी है जो दूध का दूध—पानी का पानी कर देता है। अगर राजा की तरफ़ से हर गाँव में एक-एक हंस रख दिया जाय और ग्वालों से दूध लेने के पहले इसकी परीक्षा करा ली जाय तो फिर कोई खटका न रहे।"

चौबदार की बात सुनते ही राजा उछल पड़े। मन्त्री की ओर मुड़कर बोले, "देखा, कितना सीधा उपाय है और तुम डर के मारे हमसे यह समस्या ही छिपाते रहे। जाओ, जाकर हंसों का इन्तज़ाम करो।"

मन्त्री अपना-सा मुँह लेकर चला आया। राजा फिर अपनी पीनक में मगन हो गये।

दूसरे दिन मन्त्री ने चारों तरफ़ आदमी दौड़ाए—हंसों की खोज में। महीने भर तक भटकते रहने के बाद वे हिमालय पर्वत से हंसों का एक झुंड लेकर लौटे। ज्यों ही उनके आने की ख़बर मिली, अँधेर नगरी की सारी जनता शहरी दरवाज़े पर इकठ्ठा हो गयी। राजा और रानी भी सवारी में बैठकर उन्हें देखने आए। चारों ओर धूम मच गयी। ग्वालों ने सुना तो डर के मारे उनके हाथ-पैर फूल गये।

हरेक गाँव में एक-एक हंस भेज दिया गया। उसको देखभाल के लिए एक-एक सिपाही तैनात किया गया। रोज़ सवेरे सब ग्वाले दूध लेकर आते तो सबसे पहले दूध का एक कटोरा हंस के सामने रख दिया जाता। अगर वह गटागट सारा दूध पी जाता, तो दूध बिक्री के लिए बाज़ार में भेज दिया जाता। पर अगर वह कभी थोड़ा-सा भी दूध छोड़ देता तो ग्वाले पर जुर्माना कर दिया जाता। हफ़्ते भर में ही स्थिति सुधर गयी। लोग शुद्ध दूध पी-पीकर मोटे होने लगे।

पर अब मन्त्री के सामने एक ऐसी समस्या आ खड़ी हुई, जिस पर पहले किसी ने ग़ौर ही न किया था। हंसों को खिलाने के लिए मोतियों की ज़रूरत हुई। कुछ दिन तो ख़ज़ाने के मोतियों से काम चला। फिर नगरी के जौहरियों से मोती ख़रीदकर हंसों को खिलाए गये। आख़िर एक दिन ऐसा भी आ पहुँचा जब ख़ज़ाना ख़ाली था नगरी में मोतियों का नामो-निशान न था।

हारकर मंत्री ने राजा को अपनी उलझन बताई।

राजा ने ख़ज़ाना ख़ाली होने की बात सुनी तो जामे से बाहर हो गये। बोले, "यह तुमने क्या कर डाला? हम तो तुम्हारी समस्या सुलझाते हैं और तुम रोज़ एक नया सवाल खड़ा कर देते हो! हंस मोती खाता है, यह बात क्या तुम पहले से नहीं जानते थे?"

मंत्री सिर लटकाए चुपचाप खड़ा रहा।

राजा ने आवाज़ लगायी, "चौबदार!"

मंत्री तपाक से बोला, "इस बारे में उसे भी कुछ नहीं सूझता। मैं उससे पहले ही पूछ चुका हूँ।"

राजा उठकर महलों में चले गये।

रानी ने उदासी का कारण पूछा तो उन्होंने सारा हाल कह सुनाया। रानी ने ख़ज़ाना ख़ाली होने की बात सुनी तो सिर पीट लिया। बोली, "इस मंत्री ने तो हमें मिट्टी में मिला दिया। इसे कल ही निकाल बाहर करो।"

"निकालना तो मैं भी चाहता हूँ," राजा बोले, "पर फिर राज कौन चलाएगा? थोड़ा बुद्धू ज़रूर है, पर ईमानदार है और हुकुम का पाबन्द ऐसा और कोई मिलना कठिन है।"

रानी ने कहा, "तो फिर?"

"मन्त्री का क़िस्सा छोड़ो," राजा बोले, "पहले यह बताओ, हंसों को क्या खिलाया जाए?"

रानी सोच में पड़ गयी। अचानक वह बोली, "अच्छा, क्या हंस को असली और नक़ली मोती का भेद मालूम होता है?"

"नहीं तो", राजा ने कहा।

"बस, तो फिर हंसों को नक़ली मोती क्यों नहीं खिलाते?"

राजा के मुँह पर हँसी खेल गयी।

दूसरे दिन से हंसों को नक़ली मोती खिलाये जाने लगे।

एक सप्ताह होते-न-होते सिपाहियों ने आकर ख़बर दी, नक़ली मोती खाने के कारण सारे हंस मर गये हैं।

दिवंगत भारत भूषण अग्रवाल से

शमशेर बहादुर सिंह

निज़ामुद्दीन वेस्ट के आर्यसमाज-दाहक्रिया स्थान की ओर जब भारत जी के बंधु-बांधव और साहित्यिक मित्र उनका पार्थिव अवशेष ले जा रहे थे, तो सारे रास्ते यही पंक्ति बार-बार मेरी भावना से टकरा रही थी :

मेरे कमज़ोर कांधे को तेरी मिट्टी उठानी थी!

इसके बाद 2-3 हफ़्ते तक यही 'ज़मीन' मेरी भावनाओं और स्मृतियों को बाँधे रही, जब तक कि और भी कई मिसरे और शेर इसमें जुड़ते न चले गये, यहाँ तक कि मर्सिये का तीसरा बन्द पूरा हो गया और चित्त को इस असामयिक संताप से बहुत-कुछ 'मुक्ति' हुई और कुछ-न-कुछ शांति-लाभ हुआ। कुछ स्थितियों में कविता अपना यह प्रयोजन भी (कमोबेश) सिद्ध करती है।

खड़ी बोली की हिंदी परंपरा में न होकर, उर्दू परंपरा में होने के कारण मुझे इसे प्रकाशित करने में कुछ संकोच था। मगर इस कविता के माध्यम से किसी-न-किसी प्रकार 'सप्तकीय' परंपरा के दो साहित्यिक व्यक्ति जुड़ गये हैं, अतः कुछ-न-कुछ आशा की जा सकती है कि कृपालु पाठक संभवतः इस स्थिति को स्वीकार कर लेंगे :

(1)

अभी तो उम्र थी!—देता सहारा तू मुझे!!... लेकिन
मेरे कमज़ोर काँधे को तेरी मिट्टी उठानी थी!!
चिता तेरी जली 'हजरत निज़ामुद्दीन'[1] के दर पर :
मुकद्दस[2] ख़ाक पर आयी जो मथुरा की निशानी[3] थी!

1. 'निज़ामुद्दीन वेस्ट' यमुना के तट तक आज नयी दिल्ली का यह क्षेत्र सदियों से बहुत पवित्र क्षेत्र माना जा रहा है। 2. पवित्र। 3. मथुरा, स्वर्गीय भारत भूषण अग्रवाल का जन्मस्थान।

उरूजे-ज़िन्दगी[4] में क्यों यकायक यह सवाल[5] आया?
फ़ना के पार भी शायद कोई मंज़िल बनानी थी!
अजब मस्ती-सी थी, भारत, तेरी जद्दो-जेहद[6] में भी
मुसल्सल[7] जांफिशानी इक फ़साना थी, कहानी थी!
न क्यों चर्चे हों तेरी चारजोई,[8] गमगुसारी[9] के!
वही ग़म का मदावा[10] था जो तेरी छेड़खानी थी!
अदब[11] में ता-अबद[12] कायम रहेंगी तेरी तख़लीकें;[13]
अदब का सानेहा[14] गो तेरी मर्गे-नागहानी थी!

हो तेरी आत्मा को शान्ति हासिल दुआ ये है
जो लाफ़ानी[15] थी अब भी है, गयी वो शै जो फ़ानी[16] थी।

(2)

जिधर भी देखता हूँ मैं तेरा ही अक्स उभरता है :
अभी तक मेरी आँखें में तेरी तस्वीर फिरती है!
बुलंदी पा के, दुनिया से यकायक तेरा उठ जाना!
पहुँचकर अपनी मंज़िल पर कोई तक़दीर फिरती है!*
बहुत कुछ कर गया, फिर भी बहुत से ख़्वाब अधूरे थे।
तुझी को ढूँढ़ती हर ख़्वाब की ताबीर[17] फिरती है!
फिज़ाओं में तेरी आवाज़ की झनकार-सी अब तक
किसी को ढूँढ़ती-सी काँपती दिलगीर[18] फिरती है!
कहाँ होंगे अब ऐसे ज़िन्दादिल। हर याद में गोया।
तेरी ज़िन्दादिली की बोलती तस्वीर फिरती है!
अजब सब्रो-सुकूँ[19] था! बंदे-ग़म[20] काटे तो यों हँस कर—
ग़मों की टूटती देखो पड़ी ज़ंजीर फिरती है!!

तो तेरी आत्मा को शान्ति हासिल हुआ ये है
हरेक शै अपने मर्कज[21] को दमे-आखीर[22] फिरती है!

---

4. जीवन के उत्कर्ष (में)। 5. ह्रास। 6. संघर्ष। 7. लगातार, निरन्तर। 8. तदबीर, प्रयत्न। 9. हमदर्दी। 10. उपचार। 11. साहित्य। 12. चिरकाल तक। 13. रचनात्मक कृतियाँ। 14. मार्मिक दुर्घटना। 15. अमर। 16. नश्वर। भारत जी शिमला में थे जब हृदयगति बन्द हो जाने से उनकी आकस्मिक मृत्यु हुई। 17. स्वप्नफल। 18. दिल को मसोसती हुई। 19. सब्र और धीरज। 20. दुखों के बन्धन। 21. केन्द्र। 22. अन्तकाल में।

अदीब अहबाब[23] तेरी मश्के-पैहम[24] से सबक़ सीखें!
अज़ीज़-ओ-अकरबा[25] तेरे, तेरी हिम्मत से हिम्मत लें!
जहाँ भी तू रहा तेरी वफ़ादारी ही सब कुछ थी!
यही कहता था—लें हमसे जहाँ तक हो, मशक्कत लें!!
सियासत में तुझे क्या दख़्ल! हाँ, वह भी सियासत थी—
घरेलू, बेजरर,[26] सी कुछ—अगर नामे-सियासत लें!
मिजाह-ओ-तंज[27] -ओ-तुक्तक लें, कि सोशल नज़्म लें तेरी,—
वही इक छटपटाहट-सी है, मन की जो भी रंगत लें!
तजस्सुम[28] थी तेरी फ़ितरत,[29] तो मश्के-फ़न[30] रियाजत[31] थी;
बजा है[32], तेरी काविश[33] से अगर दर्से[34] फसाहन[35] लें!
कठिन हैं फिक्र-ओ-फन[36] के मरहले[37] आख़ीर तक क्या-क्या!
कभी समझें तो अहले-दिल तेरा हंगामे-रहलत[38] लें!

हो तेरी आत्मा को शान्ति हासिल दुआ ये है
नया शुभ जन्म ले तू, औ'नये युग तेरा स्वागत लें!

---

23. साहित्यिक मित्र। 24. निरंतर अभ्यास। 25. संगी-संबंधी। 26. निरापद। 27. हास्य और व्यंग्य। 28. खोज वृत्ति। 29. प्रकृति। 30. कला का अभ्यास। 31. साधना। 32. उचित ही है। 33. घोर प्रयत्नों। 34. पाठ। 35. सहज सरस स्तरीय शैली। 36. चिन्तन और कला। 37. मंज़िलें। 38. मृत्यु-क्षण (को उदाहरण-स्वरूप सामने रखें)।

भारत भूषण अग्रवाल की रचनाएँ

भारत भूषण अग्रवाल रचनावली—चार भाग : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नयी दिल्ली

बहुत बाक़ी है : पराग प्रकाशन, दिल्ली

अनुपस्थित लोग : लोकभारती, इलाहाबाद

एक उठा हुआ हाथ : लोकभारती, इलाहाबाद

उतना वह सूरज है : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली

काग़ज़ के फूल : भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली

मेरे खिलौने : पराग प्रकाशन, दिल्ली

अग्निलीक : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली

सेतु बन्धन : वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली

लीक-अलीक : राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली

आधे-आधे जिस्म : सम्भावना प्रकाशन, हापुड़

प्रसंगवश : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली

कवि की दृष्टि : द मैकमिलन कम्पनी, नयी दिल्ली

Dissections : WRITERS' WORKSHOP BOOKS, CALCUTTA

सहायक ग्रन्थ

तार सप्तक : भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली

नयी कविता और अस्तित्ववाद : रामविलास शर्मा

कविता के नये प्रतिमान : नामवर सिंह

नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ : जगदीश गुप्त

नये प्रतिमान : पुराने निकष : लक्ष्मीकान्त वर्मा

हिन्दी नवलेखन : रामस्वरूप चतुर्वेदी

भारत भूषण अग्रवाल : कुछ यादें : कुछ चर्चाएँ : सं. बिन्दु अग्रवाल

जनान्तिक : नेमिचन्द्र जैन

फ़िलहाल : अशोक वाजपेयी

आलोचना की पहली किताब : विष्णु खरे
कविता से साक्षात्कार : मलयज
रश्मिबंध : सुमित्रानन्दन पन्त
